दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

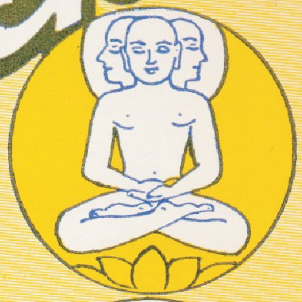

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (गुजरात) का मुखपत्र

मायासल्ल मणहु णिस्सारहु ।
अज्जवधम्म पवित्त वियारहु ॥
वउ-तउ मायावियहु णिरत्थउ ।
अज्जव सिवपुर पंथहु सत्थहु ॥

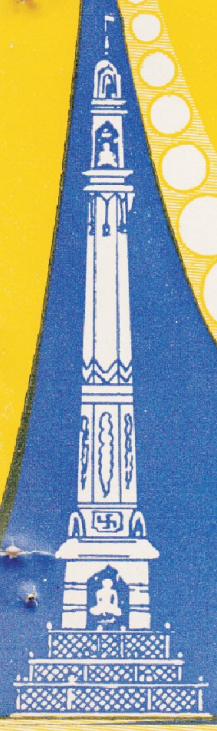

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३२ : अंक ८ [३८०] फरवरी, १९७७

आत्मधर्म [३८०]

[शाश्वत सुख का मार्गदर्शक आध्यात्मिक हिन्दी मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ हम बैठे अपनी मौन सौं
२ हे प्रभो! यह बात आपकी ही है
३ संपादकीय : उत्तम आर्जव
४ सराग और वीतराग सम्यक्त्व
[परमात्मप्रकाश प्रवचन]
५ प्रतिदिन करनेयोग्य कार्य
[पद्मनंदि पंचविंशतिका प्रवचन]
६ स्व से एकत्व और पर से विभक्त
[समयसार प्रवचन]
७ जितभवमभिवंदे
[नियमसार प्रवचन]
८ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
९ ज्ञान-गोष्ठी
१० समाचार दर्शन
११ पाठकों के पत्र
१२ प्रबंध संपादक की कलम से

मायासल्ल को हृदय से निकालो और पवित्र आर्जवधर्म का विचार करो क्योंकि मायावी के व्रत-तप सब निरर्थक हैं। आर्जवधर्म ही मुक्ति का सत्यमार्ग है। **- महाकवि रइधू**

(मूल छंद मुखपृष्ठ पर दिया गया है)

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३२ [३८०] अंक : ८

हम बैठे अपनी मौन सौं॥
दस दिन के मिहमान जगत-जन,
बोलि बिगारै कौन सौं॥ हम०॥
गये विलाय भरम के बादर,
परमारथ-पथ-पौन सौं।
अब अन्तरगति भई हमारी,
परचे राधारौन सौं॥ हम०॥
प्रगटी सुधापान की महिमा,
मन नहिं लागै बौन सौं।
छिन न सुहाय और रस फीके,
रुचि साहिब के लौन सौं॥ हम०॥
रहे अघाय पाय सुख संपति,
को निकसै निज भौन सौं।
सहज भाव सद्गुरु की संगति,
सुरझै आवागौन सौं॥ हम०॥

[कविवर बनारसीदास]

हे प्रभो! यह बात आपकी ही है.....

७ दिसंबर, १९७५ को नियमसार परमागम पर प्रवचन करते हुए पूज्य श्री कानजीस्वामी के अंतस्पर्शी हृदयोद्‌गार इस प्रकार निकले :-

''भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव नियमसार में कहते हैं कि—'सैकड़ों परम अध्यात्म शास्त्रों में कुशल ऐसे मैंने जिनेश्वरदेव की यह बात पूर्वापर विरोध आदि सर्व दोषरहित जानकर कही है।' और टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव टीका करते हुए कहते हैं कि —'गुणों को धारण करनेवाले गणधरों द्वारा रचित और श्रुतधरों की परंपरा से भली-भांति व्यक्त किये गये इस परमागम के अर्थसमूह का कथन करने में हम मंदबुद्धि कौन? अर्थात् इस शास्त्र की टीका में कहे हुए भावों का—वस्तुस्वरूप का निरूपण हमने नया नहीं किया है, परंतु गणधरादि श्रुतधरों की परंपरा से चला आया है।'

इस परमागम में ऐसा कहा गया है कि—**कारणपरमात्मा ही वास्तव में आत्मा है और कारणपरमात्मा ही वास्तव में मोक्षमार्ग का हेतु है।**

यहाँ त्रिकाल परमपारिणामिकभाव को ध्येय बतलाना है, इसलिये प्रगट होनेवाली मोक्षमार्गरूप निर्मल पर्याय को भी परद्रव्य तथा पर-भाव कहकर आश्रय करनेयोग्य नहीं है - ऐसा कहा है।

जिसप्रकार परद्रव्य के आश्रय से निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती, उसीप्रकार निर्मल पर्याय के आश्रय से भी नवीन निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती; इसलिए उसे पर-स्वभाव तथा परद्रव्य कहा है।

यहाँ भगवान की गद्दी पर बैठकर जो बात निकलती है, वह परमात्मा की कही हुई बात है। आज यहाँ बैठते ही यह विचार आया था कि - हे प्रभो! यह बात आपकी ही है....''

सम्पादकीय

उत्तम आर्जव | एक विवेचन

क्षमा और मार्दव के समान ही आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में छल-कपट मायाचार के अभावरूप शांतिस्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है, उसे भी आर्जव कहते हैं। यद्यपि आत्मा आर्जवस्वभावी है, तथापि अनादि से ही आत्मा में आर्जव के अभावरूप माया कषायरूप पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

'ऋजोर्भावः आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाली सरलता ही उत्तम आर्जव धर्म है। उत्तम आर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।

आर्जव धर्म की विरोधी माया कषाय है। माया कषाय के कारण आत्मा में स्वभावगत सरलता न रहकर कुटिलता उत्पन्न हो जाती है। मायाचारी का व्यवहार सहज एवं सरल नहीं होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है, और करता कुछ है। उसके मन-वचन-काय में एकरूपता नहीं रहती। वह अपने कार्य की सिद्धि छल-कपट के द्वारा ही करना चाहता है।

मायाचारी की प्रवृत्ति का चित्रण पंडित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है :-

''जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नाना प्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओं को अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रकट होने पर स्वयं का बहुत बुरा हो, मरणादिक हो, उनको भी नहीं गिनता। तथा माया होने पर किसी पूज्य व इष्ट का भी संबंध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नहीं रहता। यदि छल द्वारा कार्य सिद्धि न हो तो स्वयं बहुत संतापवान

होता है, अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है – ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।'' (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५३

माचायारी व्यक्ति अपने सब कार्य मायचार से ही सिद्ध करना चाहता है। वह यह नहीं समझता कि काठ की हांडी दो बार नहीं चढ़ती। एक बार मायाचार प्रकट हो जाने पर जीवनभर को विश्वास उठ जाता है। धोखाधड़ी से कभी-कभी और किसी-किसी को ही ठगा जा सकता है, सदा नहीं और सबको भी नहीं।

यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात यह है कि लौकिक कार्यों की सिद्धि मायाचार से नहीं, पूर्व पुण्योदय से होती है और पारलौकिक कार्य की सिद्धि में पाँचों समवायों के साथ पुरुषार्थ प्रधान है।

कार्यसिद्धि के लिये कपट का प्रयोग कमजोर व्यक्ति करता है। सबल व्यक्ति को अपनी कार्यसिद्धि के लिये कपट की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी प्रवृत्ति तो अपने जोर के जरिये कार्य सिद्ध करने की रहती है।

यह भी बात नहीं कि मायाचार की प्रवृत्ति मात्र किसी को ठगने के लिये ही की जाती हो, कुछ लोग मनोरंजन के लिये या आदतवश भी ऐसा करते हैं। उन लोगों को यहाँ की वहाँ भिड़ाने में कुछ आनंद-सा आता है। ऐसे लोग अपने छोटे से छोटे मनोरंजन के लिये दूसरों को बड़े से बड़े संकट में डालने से नहीं चूकते।

आजकल सभ्यता के नाम पर भी बहुत-सा मायाचार चलता है। बिना लाग-लपेट के कही गयी सच्ची बात तो लोग सुनना भी पसंद नहीं करते। यह भी एक कारण है कि लोग अपने भाव सीधेरूप में प्रकट न कर ऐड़े-टेड़े रूप में व्यक्त करते हैं। सभ्यता के विकास ने आदमी को बहुत-कुछ मिठबोला बना दिया है। आज के आदमी के लिये ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करना और अन्दर से काट करना एक साधारण-सी बात हो गयी है।

वह यह नहीं समझता कि यह मायाचारी दूसरों के लिये ही नहीं, उसके लिये भी बहुत खतरनाक साबित हो सकती है, उसके सुख-चैन को भंग कर सकती है। भंग क्या कर सकती है, किये रहती है।

मायाचारी सदा सशंक बना रहता है, क्योंकि उसने जो दुरंगी नीति चली है, उसके प्रकट हो जाने का भय उसे सदा बना रहता है। छल कभी न कभी प्रकट होता ही है, उसकी गुप्तता बनाये रखना अपने आप में असंभव नहीं, तो कठिन काम अवश्य है। वह सदा उसी में उलझा रहता है।

वह हमेशा भयाक्रांत भी बना रहता है। उसे यह भय सदा ही बना रहता है कि कपट खुल जाने पर उसकी बहुत बुरी हालत होगी, वह महान कष्ट में पड़ जायेगा। बलवानों के साथ किया गया कपट-व्यवहार खुलने पर बहुत खतरनाक साबित होता है। खतरा तो कपट खुलने पर होता है, पर खतरे की आशंका से कपटी सदा ही भयाक्रांत रहता है।

सशंकित और भयाक्रांत व्यक्ति कभी भी निराकुल नहीं हो सकता। उसका चित्त निरंतर आकुल-व्याकुल और अशांत रहता है। अशांत चित्त व्यक्ति कोई भी कार्य सही रूप में एवं सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है, फिर धर्म की साधना और आत्मा की आराधना तो बहुत दूर की बातें हैं।

मायाचारी व्यक्ति का कोई विश्वास नहीं करता। यहाँ तक कि माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी-पुत्र का भी उस पर विश्वास उठ जाता है।

यही कारण है कि माया कषाय का वर्णन करते हुए श्री शुभचंद्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवें सर्ग में लिखा है:-

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम्।
पापपंकमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥५८॥

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः।
शीलशालवने बह्निर्मायेयमवगम्यताम्॥५९॥

बुद्धिमान लोग कहते हैं कि माया को इसप्रकार जाने कि वह अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पापरूपी कीचड़ का बड़ा भारी गड्ढा, मुक्ति-द्वार की अर्गला, नरकरूपी घर का द्वार और शीलरूपी शालवृक्ष के वन को जलाने के लिये अग्नि है।

माया कषाय के अभाव का नाम ही आर्जव धर्म है।

आर्जव धर्म और माया कषाय की चर्चा जब भी चलती है, तब उसे मन-वचन-काय के माध्यम से ही समझा-समझाया जाता है। कहा जाता है कि मन-वचन और काया की एकरूपता ही आर्जव धर्म है और इनकी विरूपता ही आर्जव धर्म की विरोधी माया कषाय है। यह उपदेश भी दिया जाता है कि जैसा मन में हो, वैसा ही वाणी से कहना चाहिये, तथा जैसा बोला हो, वैसा ही करना चाहिये। इसे ही आर्जव धर्म बताया जाता है। तथा मन में और, वचन में और, करे कुछ और, वह माया है - ऐसा कहा जाता है। मन-वचन-काय की इस विरूपता को ही वक्रता, कुटिलता आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

किंतु यह सब स्थूल कथन है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इस संदर्भ में कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

आर्जव धर्म और माया कषाय की उक्त परिभाषाएँ स्वीकार करने पर आर्जव धर्म और माया कषाय की उपस्थिति मन-वचन-कायवालों के ही मानना होगी, क्योंकि मन-वचन-काय की एकरूपता या विरूपता मन-वचन-कायवालों के ही संभव है; जिनके मन-वचन-काय ही नहीं, उनके नहीं। मन-वचन-काय के अभाव में उनमें एकरूपता या विरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता।

सिद्धों के मन-वचन-काय का अभाव है। अत: उक्त परिभाशा के अनुसार उनके आर्जव धर्म संभव नहीं है, जबकि उनके आर्जव धर्म होता है। उनमें आर्जव धर्म की सत्ता शास्त्र-संमत तो है ही, युक्तिसंगत भी है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मा के धर्म हैं एवं वे आत्मा की स्वभाव-पर्यायें भी हैं, उनका - संपूर्ण धर्मों एवं संपूर्ण स्वभाव-पर्यायों से युक्त सिद्ध जीवों में पाया जाना अवश्यंभावी है, क्योंकि संपूर्ण शुद्धता का नाम ही सिद्ध पर्याय है।

इसीप्रकार जिनके मन और वाणी नहीं है, ऐसे एकेन्द्रियादि जीवों के माया कषाय मानना संभव न होगा; क्योंकि जिनके अकेली काया है, मन और वचन है ही नहीं, उनके मन-वचन-काय की विरूपता अर्थात् मन में और, वचन में और, करे कुछ और वाली बात कैसे घटित होगी ?

एक दुकान पर तीन विक्रेता हैं – पृथक्–पृथक् उन सबसे किसी कपड़े का भाव पूछने पर एक ने आठ रुपये मीटर, दूसरे ने दस रुपये मीटर एवं तीसरे ने बारह रुपये मीटर बताया, जबकि वह है आठ रुपये मीटर का ही। उक्त स्थिति में तीनों की बातों में विरूपता होने से वे अप्रमाणिक कहे जावेंगे। आप कहेंगे – क्या लूट मचा रखी है, जितने आदमी उतने भाव। पर यदि एक ही विक्रता हो और वह आठ रुपये मीटर के कपड़े को बारह रुपये मीटर बतावे तो क्या वह प्रामाणिक हो जावेगा ? नहीं, कदापि नहीं। परंतु एक ही विक्रेता होने से विरूपता दिखायी नहीं देगी। एक में विरूपता कैसी ? विरूपता तो अनेक में ही संभव है। इसीप्रकार एकेन्द्रियादि जीवों में वाणी और काया का अभाव होने से विरूपता तो संभव नहीं है, तो फिर उनके – मन–वचन–काय की विरूपता है, परिभाषा जिसकी ऐसी – माया कषाय की उपस्थिति कैसे मानी जावेगी ? माया कषाय के अभाव में उनके आर्जव धर्म मानना होगा जो कि असंभव है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि एकेन्द्रिय के ही क्या, एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों के चारों कषायें होती हैं, भले ही उनका प्रकट रूप दिखायी न दे।

दूसरे मन–वचन–काय की एकरूपता उल्टी भी तो हो सकती है। जैसे तीनों ही विक्रेता आठ रुपये मीटर के कपड़े का भाव बीस रुपया मीटर बतावें, तो क्या वे सही हो जावेंगे ? नहीं, कदापि नहीं; जबकि उन तीनों के बोलने में एकरूपता दिखायी देगी, क्योंकि बुद्धिपूर्वक पूर्वनियोजित बेईमानी में भी एकरूपता सहज ही पायी जाती है।

उसीप्रकार जैसे किसी के मन में खोटा भाव आया, उसे उसने वाणी में भी व्यक्त कर दिया और काया से वैसा कार्य भी कर डाला तो क्या उसके आर्जव धर्म प्रकट हो जावेगा ? फिर तो आर्जव धर्म प्राप्त करने के लिये मन में आये प्रत्येक खोटे भाव को वाणी में लाना और क्रियात्मकरूप देना अनिवार्य हो जायेगा, जो कि किसी भी स्थिति में इष्ट नहीं हो सकता।

'मन में होय सो वचन उचरिये' के संदर्भ में एक बात यह भी विचारणीय है कि – क्या आर्जव धर्म के लिये बोलना जरूरी है ? क्या बिना बोले आर्जव धर्म की सत्ता संभव नहीं है ? जो भावलिंगी संत मौनव्रत के धारी हैं, क्या उनके आर्जव धर्म नहीं है ? बाहुबली दीक्षा लेने के बाद एक वर्ष तक ध्यानस्थ खड़े रहे, कुछ बोले ही नहीं; तो क्या उनके आर्जव धर्म नहीं था ? था, अवश्य था। तो फिर आर्जव धर्म होने के लिये बोलना जरूरी नहीं रहा।

यदि जैसा मन में हो, वैसा ही बोल दें, तो क्या आर्जव धर्म हो जायेगा ? नहीं, क्योंकि इसप्रकार तो फिर विकृत-मन और विकृत-वाणी वाला अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति आर्जव धर्म का धनी हो जायेगा, क्योंकि उसके मन में जो आता है, वह वही बक देता है।

जिसप्रकार बोलने के संबंध में यहाँ स्पष्ट किया गया है, उसीप्रकार करने के संबंध में भी समझ लेना चाहिये।

आर्जव धर्म और माया कषाय, ये दोनों ही जीव के भाव हैं एवं मन-वचन-काय पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। जीव और पुद्गल दोनों जुदे-जुदे द्रव्य हैं और उनकी परिणतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। आर्जव धर्म आत्मा का स्वभाव एवं स्वभाव-भाव है तथा माया कषाय आत्मा का विभाव-भाव है। स्वभाव और स्वभाव-भाव होने के लिये तो पर की आवश्यकता का प्रश्न ही नहीं उठता, विभाव-भाव में भी पर निमित्तमात्र ही होता है। निमित्त भी कर्मोदय तथा अन्य बाह्य पदार्थ होंगे, मन-वचन-काय नहीं। अत: मन-वचन-काय से आर्जव धर्म और माया कषाय के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यद्यपि यह सत्य है कि आर्जव धर्म के होने के लिये मन-वचन-काय की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मन-वचन-कायरहित सिद्धों के वह विद्यमान है। इसीप्रकार माया कषाय की उपस्थिति के लिये भी तीनों की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नहीं, क्योंकि एकेन्द्रिय के अकेली काया है, फिर भी उसके माया पायी जाती है, जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि समझने-समझाने के लिये उनकी उपयोगिता है, क्योंकि इनके बिना हमारे पास माया कषाय और आर्जव धर्म को समझने-समझाने के लिये कोई दूसरा साधन नहीं है। यही कारण है कि इन्हें मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

दूसरी बात यह भी तो है कि समझनेवाले और समझानेवाले दोनों ही मन-वचन-कायवाले हैं और समझने-समझाने का माध्यम भी मन-वचन-काय है। जिनके इनका अभाव है, ऐसे सिद्ध कभी किसी को समझाते नहीं एवं जिनके इनमें से एक का भी अभाव है, ऐसे असैनी पंचेन्द्रिय तक के संसारी जीव समझते नहीं। विशेषकर मनुष्य जाति में ही इनकी चर्चा चलती है तथा मनुष्य का मायाचार प्राय: मन-वचन-काय की विरूपता में तथा आर्जव धर्म इनकी एकरूपता में प्रकट होता देखा जाता है।

अत: आर्जव धर्म एवं माया कषाय को मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

मन-वचन-काय के माध्मय से मायाचार एवं आर्जव धर्म होते नहीं, प्रकट होते हैं। समझने-समझाने के लिये प्रकट होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रकट वस्तु को समझना-समझाना जितना आसान है, उतना अप्रकट को नहीं। एकेन्द्रिय के मन और वचन का अभाव होने से उसके माया कषाय अप्रकट रहती है, अत: उसमें माया कषाय की उपस्थिति आगम से ही जानी जाती है, उसे युक्ति से सिद्ध करना संभव नहीं। इसीप्रकार सिद्धों में आर्जव धर्म भी आगमसिद्ध ही है, युक्तियों से सिद्ध करना कठिन है। जो युक्तियाँ दी जावेंगी, अंतत: वे सब आगमाश्रित ही होंगी।

यद्यपि उक्त कारणों के कारण समझने-समझाने में मन-वचन-काय के माध्यम का प्रयोग किया जाता है, तथापि समझने-समझाने की इस पद्धति के कारण कोई यदि यही मान ले कि माया कषाय एवं आर्जव धर्म के लिये मन-वचन-काय आवश्यक है, तो उनका समझना सही न होगा।

यद्यपि मन-वचन-काय की विरूपता नियम से मायाचारी के ही होगी तथा जितने अंश में आर्जव धर्म प्रकट होगा, उतने अंश में तीनों की एकरूपता भी होगी ही; तथापि माया कषाय और आर्जव धर्म इन तक ही सीमित नहीं, और भी है - यहाँ यही बताना है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि मन-वचन-काय के माध्यम से आर्जव धर्म और माया कषाय को समझने-समझाने का मूल कारण यह है कि मन-वचन-काय वालों की माया कषाय और आर्जव धर्म प्राय: मन-वचन-काय के माध्यम से ही प्रकट होते हैं।

[उत्तरार्द्ध अगले अंक में]

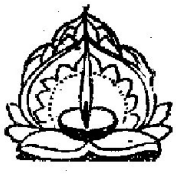

सराग और वीतराग सम्यक्त्व

पूज्य गुरुदेव कानजीस्वामी के अध्यात्म-रस से ओतप्रोत प्रवचन आजकल परमपूज्य मुनिराज योगीन्दुदेव के ग्रंथराज 'परमात्मप्रकाश' पर चल रहे हैं।

द्वितीय अध्याय के दोहा नं० १७ की संस्कृत टीका पर हुए मार्मिक प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है :-

यहाँ इस गाथा में श्री योगीन्दुदेव ने निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं, यह समझाते हुए ऐसा कहा कि वीतराग चारित्र से तन्मय निज शुद्धात्मा की अनुभूति ही निश्चय सम्यक्त्व है।

इस पर शिष्य ने प्रश्न किया कि हे प्रभो! शुद्धात्मा ही उपादेय है; निमित्त, राग, अथवा पर्याय उपादेय नहीं है, किंतु निज त्रिकाली परमात्मा ही उपादेय है और पर्याय में जिसने निज शुद्धात्मा को उपादेय बनाया, उसी को निश्चयसम्यक्त्व है - ऐसा आपने ही पिछली गाथाओं में कहा था। अब यहाँ आपने ही यह कहा कि वीतराग चारित्र से तन्मय हो, वह निश्चयसम्यक्त्व है। इन दोनों कथनों में तो पूर्वापर विरोध आता है, कारण कि निज शुद्धात्मा की उपादेयतारूप निश्चयसम्यक्त्व तो गृहस्थाश्रम में तीर्थंकरों को, चक्रवर्ती भरत तथा राम को, एवं पांडवादि महापुरुषों को भी था - ऐसा आपने पहले कहा था; परंतु उनके गृहस्थाश्रम में वीतरागचारित्र तो है नहीं। यदि वीतरागचारित्र से तन्मय निश्चयसम्यक्त्व हो तो उनके गृहस्थाश्रम में वीतरागचारित्र तो है नहीं और यदि उन्हें गृहस्थाश्रम में वीतरागचारित्र हो तो फिर गृहस्थाश्रम कैसे कहा जाये? इसलिए निज शुद्धात्मा की उपादेयतारूप निश्चयसम्यक्त्व कहना और साथ ही वीतरागचारित्रयप शुद्धात्मा की अनुभूति को निश्चयसम्यक्त्व कहने से तो दोनों कथनों में परस्पर विरोध आता है।

शिष्य ने आगे-पीछे के कथनों को बराबर ध्यान में रखा है, इसीलिये उसको दोनों कथनों के मर्म को जानने की जिज्ञासा हुई है, ऐसा जानकर मुनिराज शिष्य को समाधान कराते हुए कहते हैं कि उन उत्तम पुरुषों को गृहस्थाश्रम में, शुद्धात्मा ही उपादेय है; ऐसी रुचिरूप

निश्चयसम्यक्त्व है। परंतु चारित्र की प्रधानता से यहाँ वीतरागचारित्र से तन्मय है, वह निश्चयसम्यक्त्व है, ऐसा कहकर निचली भूमिकावाले को – चौथे-पाँचवें-दठे गुणस्थानवाले को – निज शुद्धात्मा की उपादेयतारूप निश्चयसम्यक्त्व होने पर भी साथ में चारित्र का दोष विद्यमान है, इस अपेक्षा से उसे सराग सम्यक्त्व कहकर व्यवहार कहने में आया है।

चतुर्थ-पंचम तथा षष्टम गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि का ध्येय पूर्णद्रव्य ही है, उसने निज शुद्धात्मा को ही उपादेय बनाया है, अतः उसको निश्चयसम्यक्त्व ही है; किंतु उसे अस्थिरता का दोष है, इसलिये वीतरागता नहीं है। चूँकि यहाँ चारित्र की प्रधानता से कथन करने में आया है, इसलिये चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थानवाले निश्चयसम्यक्त्व को यहाँ सराग सम्यक्त्व कहकर व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है। वीतरागता नहीं है, इस अपेक्षा को मुख्य करके निश्चयसम्यक्त्व को व्यवहार कहा गया है।

भाई! यह समझने पर ही छुटकारा होगा, यह समझे बिना दुःख मिटेगा नहीं। इसके (तेरे) दुःख की क्या बात करें? देवों का सुख भी क्लेश है। उसे मिटाने के लिये प्रथम सम्यग्दर्शन करना चाहिये। वह कैसे हो? पूर्ण निज शुद्धात्मा को पर्याय में ध्यान का विषय बनाकर उसे (निज शुद्धात्मा को) उपादेय बनावे तो सम्यग्दर्शन हो और उस सम्यग्दर्शन को निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं। इसप्रकार चतुर्थ-पंचम तथा षष्टम गुणस्थान में भी निश्चयसम्यक्त्व है। किंतु उस भूमिका में वीतरागता प्रकट नहीं हुई है, इसलिये वीतरागता की प्रधानता से कथन करने पर उस निश्चयसम्यक्त्व को यहाँ सरागसम्यक्त्व कहकर व्यवहार सम्यक्त्व कहा गया है।

आत्मा वीतरागस्वरूप है और उसका अनुभव हुआ है, इसलिये वह निश्चयसम्यक्त्व है। किंतु अभी वीतरागता प्रगट नहीं हुई है, इसलिये वीतरागता की प्रधानता से सरागसम्यक्त्व कहकर वीतरागता प्रकट करने को उसे व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है।

छठे गुणस्थान में निश्चयरत्नत्रय तो है, परंतु साथ में राग है, इसलिये उसे सरागसम्यक्त्व कहा गया है। अपना शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसी दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से ही होती है, किंतु चारित्र के दोष के कारण साथ में राग है, इसलिये सरागसम्यक्त्व कहा गया है। परंतु किसको? जिसने निज शुद्धात्मा को उपादेय बनाया किंतु अभी अस्थिरता का राग है उसको।

लेकिन जिसने निज शुद्धात्मा को उपादेय किया नहीं और देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा-भक्ति तथा पंच महाव्रतादि की क्रिया करे तो उसे सरागसम्यक्त्व नहीं कहते। निश्चयसम्यक्त्वी को निचली भूमिका में साथ में राग है, इसलिये उस निश्चयसम्यक्त्व को यहाँ सरागसम्यक्त्व कहा है। पश्चात् जब वीतराग चारित्र होता है, तब उस सम्यक्त्व को निश्चयसम्यक्त्व कहा जाता है।

जब तक निज शुद्धात्मा की अखण्ड भावना नहीं हुई अर्थात् अखण्ड स्थिरता नहीं हुई, तब तक भरत-पांडवादि, तीर्थंकरदेव एवं सिद्धों का गुणस्तवन तथा वस्तुस्तवन करते थे, भक्ति-पूजा करते थे तथा मुनियों को आहारदान आदि देते थे। निश्चयसम्यक्त्वी होने पर भी विषय-कषाय आदि सांसारिक भावों को रोकने के लिये भक्ति आदि करते थे, किंतु वह करनेयोग्य अथवा उपादेय है - ऐसा उन सम्यग्दृष्टियों की दृष्टि में नहीं था।

ज्ञान जानता है कि पर्याय में शुभराग होता है, उसका कर्ता-भोक्ता हूँ, तो भी करने लायक है - ऐसा नहीं जानता; फिर भी विषय-कषाय आदि रोकने के लिये शुभभावरूप व्यवहार आता है। जितने प्रमाण में तीव्र कषाय (अशुभराग) घटता है, निश्चयसम्यक्त्वी को उतनी ही संसार की स्थिति घटती है।

इसप्रकार निश्चयसम्यक्त्वी को चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थान में शुभराग आता है, और चारित्र का बल नहीं है - इसकारण वीतरागता की प्रधानता से, वीतरागता प्रकट करने को, रागयुक्त निश्चयसम्यक्त्व को सरागसम्यक्त्व कहकर, व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है। अर्थात् शुभराग के संबंध से निश्चयसम्यक्त्व को यहाँ व्यवहारसम्यक्त्व कहा गया है।

दूसरे प्रकार से कहें तो सरागसम्यक्त्व अर्थात् रागयुक्त सम्यक्त्व वह वीतराग चारित्र से तन्मय ऐसे निश्चयसम्यक्त्व का परंपरा कारण है। इसलिये सरागसम्यक्त्व को निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जाता है।

यहाँ चारित्र पर वजन देना है। आत्मा वीतरागस्वरूप ही है। वह वीतरागता जब तक पर्याय में न आवे, तब तक अस्थिरता है, राग है; इस अपेक्षा छठे गुणस्थान तक सरागसम्यक्त्व कहा गया है और जब पर्याय में वीतरागचारित्र प्रगट हो जाये अर्थात् सातवें गुणस्थान में स्वरूप में स्थिर हो जाये, तब उसे निश्चयसम्यक्त्व कहते हैं।

एक ओर ऐसा कहते हैं कि भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। और दूसरी ओर

ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दर्शन की पर्याय स्वयं अपने षट्कारक से उत्पन्न होती है, उसको द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, दूसरे गुण की पर्याय की भी अपेक्षा नहीं; ऐसी वस्तुस्थिति में कर्म का अभाव हो तो सम्यक्त्व हो- यह बात तो कहाँ रही ? ऐसी वस्तु की मर्यादा को जैसी वह है, वैसी न जाने, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता।

भाई ! तू शरीर-वाणी-मन और राग को भूल जा, वे तेरे में नहीं हैं। अरे ! तेरी निर्मल पर्याय के प्रगट होने में जहाँ द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, पूर्व पर्याय के व्यय की अपेक्षा नहीं, वहाँ व्यवहार से होती है - यह बात ही कहाँ रही ? पर्याय का ऐसा स्वतंत्र सामर्थ्य है। पर्याय स्वतंत्र ही होती है, ऐसा निर्णय करते ही उसका लक्ष्य द्रव्य की तरफ ही जाता है, और उसी की पुरुषार्थ संज्ञा है। द्रव्य की तरफ लक्ष्य जाने पर ज्ञान में द्रव्य का ज्ञान तो आता है, किंतु द्रव्य नहीं आता। सत् का जिसने निर्णय किया है, उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर ही जाती है। यही एकमात्र करने के लिये है और बाकी तो सब धूम-धाम ही है।

वीतरागस्वरूप भगवान है। उसकी प्रतीत, वही निश्चयसम्यक्त्व है। उस प्रतीति के लिये भी परमात्मा की अपेक्षा नहीं है। पर्यायमात्र स्वतंत्र है। एक-एक पर्याय सत् है। जो सत् होता है, उसमें पर का हेतु नहीं होता, सत् अहेतुक होता है; इसलिये निर्मल पर्याय को द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है, ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि भूतार्थ द्रव्य के ऊपर ही जायेगी। इसलिये भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहा है।

यहाँ इस गाथा में मुनिराज कहते हैं कि वास्तव में विचार किया जावे अर्थात् वीतरागता की अपेक्षा से विचार करने पर गृहस्थावस्था में निज शुद्धात्मा की उपादेयतारूप जो निश्चयसम्यक्त्व है, वह सरागसम्यक्त्व है और इसलिये व्यवहार है।

प्रतिदिन करनेयोग्य कार्य

'पद्मनंदि पंचविंशतिका' पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन अनेक बार हुए हैं। उसके 'उपासक संस्कार' के सातवें श्लोक पर हुए मार्मिक प्रवचनों का सार आत्मधर्म के जिज्ञासु पाठकों के लिये यहाँ दिया जा रहा है। मूल श्लोक इस प्रकार है:-

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने॥७॥

भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रंथ गुरुओं की उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रों का स्वाध्याय, संयम, तप और दान - ये छह कार्य गृहस्थ श्रावक को प्रतिदिन करनेयोग्य हैं।

यह पद्मनंदि पंचविंशतिका शास्त्र वनवासी दिगम्बर मुनिराज पद्मनंदि द्वारा ९०० वर्ष पहले लिखा गया था। यह शास्त्र श्रीमद् रायचंद्रजी को बहुत प्रिय था। उन्होंने इस शास्त्र को 'वनशास्त्र' कहा है।

इस पर यह तीसरी बार प्रवचन चल रहा है। इसके पूर्व वीर नि० सं० २४७४ और २४८१ में दो बार प्रवचन और हो चुके हैं।

धर्म ही संसार से पार उतारनेवाला है, अतः मनुष्यभव पाकर यदि मुनिधर्म धारण करने की सामर्थ्य न हो तो दृष्टि की शुद्धतापूर्वक इन छह कर्त्तव्यों के पालन द्वारा श्रावकधर्म अवश्य ही धारण करना चाहिये।

भाई! ऐसा अमूल्य मनुष्य-जीवन प्राप्त कर यों ही चला जावे, उसमें तू सर्वज्ञदेव की पहचान न करे, सम्यग्दर्शन का सेवन न करे, शास्त्र-स्वाध्याय न करे, धर्मात्मा की सेवा न करे, और कषायों की मंदतान करे तो इस जीवन में तूने क्या किया? आत्मा को भूलकर संसार में भटकते अनंतकाल बीत गया, उसमें महा मूल्यवान यह मनुष्यभव और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग

मिला, तो अब परमात्मा के समान जो तेरा स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर।

यह शरीर और ये संयोग तो क्षणभंगुर हैं, इनमें तो कहीं सुख की छाया भी नहीं है। सुखियों में पूर्ण सुखी तो सर्वज्ञ परमात्मा है, दूसरे सुखी मुनिवर हैं, जो आनंद की ऊर्मिपूर्वक सर्वज्ञपद को साध रहे हैं, और तीसरे सुखी सम्यग्दृष्टि-धर्मात्मा हैं, जिन्होंने चैतन्य के परम आनंद-स्वभाव को प्रतीति में लिया है और उसका स्वाद चखा है। ऐसे सुख का अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनिधर्म का या श्रावकधर्म का पालन करता है, उसका यह उपदेश है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव! मुनिपना अंगीकार करनेयोग्य है। जो उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्म को पालना।

श्रावक क्या करे?

श्रावक प्रथम तो हमेशा देवपूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव, उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज-रोज दर्शन-पूजन करे। स्वयं ने सर्वज्ञ को पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है, वहाँ निमित्तरूप से सर्वज्ञता को प्राप्त अरहंत भगवान के पूजन, बहुमान का उत्साह धर्मी को आता है। जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिन-प्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंचकल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्यों का उल्लास श्रावक को आता है - ऐसी इसकी भूमिका है, इसलिये उसे श्रावक का कर्तव्य कहा है। जो उसका निषेध करे तो मिथ्यात्व है। और मात्र इतने शुभराग को ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना होता नहीं - ऐसा जानो। सच्चे श्रावक को तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्मा का श्रद्धानरूप सम्यक्त्व वर्तता है, और उसके आधार से जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, उसे ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्यों में प्रवर्तता है।

समंतभद्रस्वामी, मानतुंगस्वामी आदि महान मुनियों ने भी सर्वज्ञदेव की नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है। एकभवावतारी इन्द्र भी रोम-रोम उल्लसित हो जाये, ऐसी अद्भुत भक्ति करता है।

हे सर्वज्ञ परमात्मा! इस पंचमकाल में हमें आपकी जैसी परमात्मदशा का तो आत्मा में

विरह है और इस भरतक्षेत्र में आपके साक्षात् दर्शन का भी विरह है। नाथ! आपके दर्शन बिना कैसे रह सकूँ। इसप्रकार भगवान के विरह में उनकी प्रतिमा को साक्षात् भगवान के समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे।

'जिन प्रतिमा जिन सारखी' कही है क्योंकि धर्मी को सर्वज्ञ का स्वरूप अपने ज्ञान में भास गया है, इसलिये जिनबिम्ब को देखते ही उसे उसका स्मरण हो जाता है। नियमसार टीका में श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते हैं कि जिसे भवभयरहित ऐसे भगवान के प्रति भक्ति नहीं, वह जीव भवसमुद्र के बीच मगर के मुँह में पड़ा हुआ है।

जिसप्रकार संसार के रागी प्राणी को युवा स्त्री का विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते ही प्रसन्न होता है; उसीप्रकार धर्म के प्रेमी जीव को सर्वज्ञ परमात्मा का विरह खटकता है और उनकी प्रतिमा का दर्शन करते या संतों द्वारा उनका संदेश सुनते (शास्त्र का श्रवण करते) उसे परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है - 'अहो मेरे नाथ! तन से-मन से-धन से-सर्वस्वरूप से आपके लिये क्या-क्या करूँ।'

ये पद्मनंदिस्वामी ही श्रावक के छह कर्त्तव्य बताते हैं। 'उपासक संस्कार' में वे कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है। मुनि इससे ज्यादा क्या कहे? इसलिये भव्य जीवों का प्रातः उठकर सर्वप्रथम देव-गुरु के दर्शन तथा भक्ति से वंदन और शास्त्र-श्रवण कर्त्तव्य है, अन्य कार्य पीछे करना चाहिये।

प्रभो! आपको पहचाने बिना मेरा अनंतकाल निष्फल गया, परंतु अब मैंने आपको पहचान लिया है; मैंने आपके प्रसाद से आपके जैसा मेरा आत्मा पहचान लिया है, आपकी कृपा से मुझे मोक्षमार्ग मिला और अब मेरा जन्म-मरण का अंत आ गया; ऐसा धर्मी जीव को देव-गुरु के प्रति भक्ति का प्रमोद आता है। श्रावक को सम्यग्दर्शन के साथ ऐसे भाव होते ही होते हैं। इसमें जितना राग है, उतना पुण्य है; राग बिना जितनी शुद्धि है, उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजा की तरह हमेशा गुरु की उपासना तथा शास्त्र का स्वाध्याय करे। समस्त तत्त्वों का निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे, ऐसा ज्ञाननेत्र गुरुओं के एवं जिनवाणी के प्रसाद से ही प्राप्त होता है।

जो जीव निर्ग्रंथ गुरुओं को मानता नहीं, उनकी पहचान और उपासना करता नहीं, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अंधकार है। इसीप्रकार वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत्शास्त्रों का जो अभ्यास नहीं करता, उसके नेत्र होते हुए भी विद्वान लोग उसको अंधा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्र स्वाध्याय न करे – उसके नेत्र किस काम के ? श्रीगुरु के पास रहकर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता, उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं, ऐसा कहा है।

इसप्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्रस्वाध्याय – ये श्रावक के हमेशा के कर्त्तव्य हैं। जिस घर में देव–गुरु–शास्त्र की उपासना नहीं होती, वह तो घर नहीं; परंतु जेलखाना है। जिसप्रकार भक्तिवान पुत्र को अपनी माता के प्रति कैसा आदरभाव और भक्ति आती है – अहो, मेरी माता! तेरे उपकार अपार हैं! तेरे लिये क्या–क्या करूँ ?; उसीप्रकार धर्मात्मा श्रावक को तथा जिज्ञासु जीव को भगवान के प्रति, गुरु के प्रति और जिनवाणी माता के प्रति हृदय से प्रशस्तभक्ति का उद्रेक होता है – अहो मेरे स्वामी! आपके लिये मैं क्या–क्या करूँ ? किसप्रकार आपकी सेवा करूँ ? – ऐसा भाव भक्त को आये बिना नहीं रहता, तो भी उसकी जितनी सीमा है, उतनी वह मानता है। केवल वह उस राग में धर्म मानकर रुक नहीं जाता, धर्म तो अंतर के भूतार्थस्वभाव के अवलंबन से है, उसने स्वभाव को प्रतीति में लिया है। ऐसे सम्यग्दर्शन सहिम मुनिधर्म न पाल सके तो श्रावकधर्म का पालन करे, उसका यह वर्णन है।

श्रावकधर्म में छह कर्त्तव्यों को मुख्य बताया है। एक जिनपूजा, दूसरा गुरुपूजा और तीसरा शास्त्रस्वाध्याय – इन तीन की चर्चा की। उसके बाद अपनी भूमिका के योग्य संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे।

विषयों में सुखबुद्धि तो पहले ही छूट गयी है, तत्पश्चात् विषय–कषायों में से परिणति मोड़कर अंतर में एकाग्रता का प्रतिदिन अभ्यास करे। मुनिराज को तथा साधर्मी धर्मात्मा को आहारदान, शास्त्रदान इत्यादि करने की भावना भी प्रतिदिन करे।

भरत चक्रवर्ती जैसे भी श्रावक अवस्था में भोजन के समय प्रतिदिन मुनिवरों को याद करते हैं कि कोई मुनिराज पधारें तो उन्हें आहार–दान देने के पश्चात् मैं भोजन करूँ। मुनिराज

के पधारने पर अत्यंत भक्तिपूर्वक आहारदान देते हैं। दान बिना गृहस्थ-अवस्था को निष्फल कहा है। जो मुनि इत्यादि को भक्तिपूर्वक चतुर्विधदान (आहार-शास्त्र-औषध और अभय ये चार प्रकार के दान) नहीं देता, उनका घर तो वास्तव में घर नहीं, परंतु उसको बाँधने के लिये बंधपाश है। ऐसा दान संबंधी बहुत उपदेश पद्मनंदिस्वामी ने दिया है।

श्रावक की भूमिका में चैतन्य की दृष्टिसहित इसप्रकार छह कार्यों के भाव सहज होते हैं।

सब अपने से तैयार होते हैं

'सब अपने से तैयार होते हैं, हम कुछ नहीं करते' उक्त शब्द पूज्य स्वामीजी ने उस समय कहे, जब सायंकालीन चर्चा में सैकड़ों आत्मार्थी विद्वान तैयार करने के लिये उपस्थित व्यक्तियों ने उनका आभार माना। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए पूज्य स्वामीजी ने कहा - भाई! हम क्या करते हैं? अपना अध्ययन-मनन-चिंतन और दो बार प्रवचन - बस! इसमें ही जिनका काल पकता है, आत्मा में जिनकी रुचि जागृत होती है, जो पुरुषार्थ करते हैं, वे तैयार हो जाते हैं, हम क्या करते हैं?

जब मैंने कहा कि - इसमें आपका महान योगदान है, बड़ा भारी उपकार है; तब बोले - कुछ नहीं। हम तो चाहते हैं कि तुम जैसे सभी तैयार हो जावें, पर हुए क्या? हमारा तो यही कहना है कि - 'सब अपने से तैयार होते हैं, हम कुछ नहीं करते।' - संपादक

मोक्षमार्गप्रकाशक

मोक्षमार्गप्रकाशक समाप्त हो गया है। नया संस्करण मात्र ११ हजार प्रतियों का नयी आकर्षक साज-सज्जा के साथ तथा अनेक विशेषताऐं लिये हुये डॉ० हुकमचंद भारिल्ल के संपादकत्व में जयपुर प्रिंटर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित होने जा रहा है। प्रकाशन में लगभग ४ माह लगेंगे।

प्रकाशित होते ही जिन भाईयों के आर्डर हमें पूर्व में प्राप्त हो चुके हैं, तथा हो रहे हैं; उन्हें क्रमशः भेजा जायेगा। कृपया जल्दी न करें।

स्व से एकत्व और पर से विभक्त

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के सर्वोत्तम ग्रंथराज समयसार की पाँचवीं गाथा पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है :-

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥५॥

उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

भगवान तीर्थंकर की दिव्यवाणी में से श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की रचना करके अज्ञान अंधकार में सोते हुए जीवों को - जिन्हें पर के कर्तृत्वरूप ममता के मोहरूपी सर्प का जहर चढ़ा है - अमृतसंजीवनीरूप न्याय-वचनों से मंत्रित गाथाएँ सुनाकर संसार गुफा में से बाहर निकालकर, उनका जहर उतारा है।

चौथी गाथा में एकत्व स्वभाव की दुर्लभता निरूपित करके, इस गाथा में आचार्यदेव निज वैभव से एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

वे कहते हैं कि मैं एकत्व-विभक्त आत्मा को स्वानुभव से दिखाता हूँ। अतः हे श्रोताओ! उसे तुम स्वानुभव से ही प्रमाण करना। आचार्य भगवान अपने वैभव की निर्भयता से निःशंकता से आत्मा का एकत्व-विभक्त स्वरूप बताते हैं। एकत्व शब्द स्व से अस्ति और विभक्त शब्द पर से नास्ति सूचक है। जो कुछ मेरे आत्मा का निज वैभव है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अंतररमणतारूप चारित्रदशा है, उस प्रगट समृद्धि के सर्व सामर्थ्य से मैं यह स्व से एकत्व और पर से भिन्न आत्मा को दिखाऊँगा।

यहाँ पंचम काल है, हमारी छद्मस्थदशा होते हुए भी हमने आत्मऋद्धि प्राप्त की है और पूर्ण ज्ञानी जो कह गये हैं, वही जगत के पास स्वानुभव द्वारा प्रस्तुत करते हैं। वाणी तो पर है; वाणी, वाणी में परिणमित होती है तो भी यहाँ आत्मस्वरूप को कहने की उमंग, वह उपादान,

और वाणी का योग, वह निमित्त, दोनों के अलौकिक मेल से यह ग्रंथ पूरा हुआ है। जैसा निर्णय है, वैसा ही उद्यम है।

आचार्य अमृतचंद्र ने इस गाथा पर अलौकिक टीका लिखी है। उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्य के ही क्या, समस्त आत्मानुभवी जीवों के निज वैभव का जन्म कैसे होता है ? – इस बात को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

आचार्यदेव निज वैभव का परिचय देते हुए कहते हैं कि मेरे दर्शन–ज्ञान–चारित्र वैभव का जन्म इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं के प्रकाशक शब्दब्रह्म की उपासना से हुआ है। यहाँ अपने अंतर का वैभव प्रगट करने में निर्दोष कारणरूप बाह्यसंयोग का ज्ञान कराया है कि जो भी अपने में ऐसा वैभव प्रगट करेगा, उसे ऐसा ही संयोग प्रगट होगा।

श्रीमद् रायचंद्र तो कहते हैं कि 'सर्वज्ञ भगवान ने जैसा स्वरूप देखा है, वैसा वाणी में नहीं कहा जा सकता', वहाँ स्वरूप की अचिंत्य महिमा के लिये परमार्थ कथन का गंभीर आशय समझकर उसका अनुभव करने के लिये कहा है। जबकि यहाँ घोषणा करते हैं कि शब्दब्रह्म समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है और मैं भी आत्मस्वरूप समझा हूँ, अतः वाणी द्वारा क्रमशः स्व से अभिन्न एवं पर से भिन्न स्वतंत्र आत्मस्वरूप का वर्णन करूँगा।

अहो, देखो तो कितनी हिम्मत! कितनी दृढ़ता!! घी के स्वाद का ज्ञान होता है, किंतु उसे वाणी के द्वारा कहा नहीं जा सकता। परंतु यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सर्वज्ञ के न्याय अंतर में घोलकर पी गया हूँ, अतः वाणी में आत्मा का यथार्थ स्वरूप कहा जायेगा, परमागम की उपासना से मुझे अनुभव हुआ है। उसीप्रकार जो सर्वज्ञ भगवान की अनेकांत वाणीरूप सत्–शास्त्र पढ़े, न्याय से मिलान करके खूब श्रवण–मनन करे, उसे आत्मज्ञान हुए बिना रहेगा नहीं। आत्मा का जो स्वरूप मैं समझा हूँ, उसे कहने की सामर्थ्य मुझ में आ गयी है। यद्यपि यह कथन निमित्त की अपेक्षा है, वास्तव में इसमें आचार्यदेव तो अपने स्वरूप की महिमा गाते हैं, क्योंकि परमार्थ से कोई किसी को समझा सकता नहीं। स्वभाव की दृढ़ता से उपादान में ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योग से वाणी में भी उस स्वरूप को कहने की योग्यता आ गयी है।

सर्वज्ञ–वीतराग देव का पुण्ययोग भी उत्कृष्ट है, अतः उनकी शब्दब्रह्मरूप वाणी भी पूरी है, जिसमें स्यात् पद की मुद्रावाला रजिस्टर्ड ट्रेडमार्क है। स्यात्=कथंचित् प्रकार से और

वाद=कथन। द्रव्य के एक धर्म को मुख्य और अन्य धर्म को गौण करना स्याद्वाद है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से आत्मा अविकारी (शुद्ध) है तथा वर्तमान परनिमित्ताधीन दृष्टि से अशुद्ध है। भिन्न-भिन्न प्रकार से जो-जो कथन जिनेश्वरदेव ने कहे हैं, वे वस्तु के अनेक स्वभावानुसार कहे हैं। उनमें गर्भित अपेक्षा न समझे और आत्मा को पूर्ण शुद्ध ही मान ले तो अशुद्धता दूर करने का पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। अरहंत का परमागम सर्व वस्तुओं के वचनगोचर धर्मों का कथन करता है और वचनातीत विशेष धर्मों का अनुमान करता है, अतः वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक होने से सर्वव्यापी है और मेरी वर्तमान अवस्था में जन्मा वैभव, समस्त विपरीत पक्षवादियों द्वारा ग्रहण किये गये सर्वथा एकांतरूप नय पक्षों के निराकरण में समर्थ, अत्यंत स्पष्ट निर्बाध युक्तियों के अवलंबन से उत्पन्न हुआ है।

जो निमित्त को सर्वथा उड़ाता है, वह अन्यमती एकांती है, और निमित्त से उपादान में कार्य होना मानता है, वह भी एकांत मिथ्यादृष्टि है। आगम में तो कहा है, परंतु अपनी युक्ति से मानता है। प्रयोजनभूत बात में मात्र धारणा नहीं चलती, अपनी युक्ति से सर्वथा एकांतरूप नय पक्ष का निराकरण किया है। अन्यमत आत्मा आदि का स्वरूप जैसा कहते हैं, वैसा नहीं है। अति स्पष्ट, अखंड, बाधारहित, अकाट्य और पूर्वापर-विरोधरहित युक्ति के अवलंबन से निज वैभव का जन्म हुआ है।

युक्ति मतिज्ञान है तथा वैभव में अंतरंग निमित्त है। सम्यग्ज्ञानपर्याय द्रव्य के आश्रय से होती है, परंतु उसमें युक्ति को अंतरंग निमित्त कहा है। आगम कहता है, इसलिये मान लेना, यह यथार्थ नहीं।

'पुण्यभाव बंध का कारण है' अतः उसका मोक्षमार्ग में निषेध किया है; परंतु व्यवहार से भी उसका निषेध करके पापमार्ग में प्रवृत्ति करे, तो पाप तो कालकूट जहर है, उससे तो नरक-निगोद में जाना पड़ेगा। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं; परंतु वर्तमान में शुद्ध में न रह सके तो शुभ हो परंतु अशुभ में तो न जाये, पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना तो किसी की भी अपेक्षा ठीक नहीं है। तथा कोई पुण्यभाव को ही धर्म मान ले तो उससे भी धर्म नहीं होगा। इसप्रकार निर्बाध न्याय द्वारा सत्य का स्थापन करके निर्मल स्वभाव प्रगट किया है।

और यह निज वैभव निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अंतर्निमग्न परम गुरु सर्वज्ञदेव और

अपर गुरु गणधरादि से लेकर हमारे गुरु द्वारा प्रसादरूप से प्रदान किया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये उपदेश से जन्मा है। पूर्ण स्वरूप में स्थित परमगुरु अर्थात् सर्वज्ञदेव हैं और दूसरी अपेक्षा कहा जाये तो अपना त्रिकाली ध्रुव आत्मा ही परम गुरु है।

आचार्यदेव अंतर में, जैसा है वैसा जानते हैं, तथापि विनय से कहते हैं मुझे श्रीगुरु के प्रसाद से स्वानुभव हुआ है। वीतराग निर्ग्रंथ मुनि जिस शिष्य पर मेहरबानी करके उत्तम बोध दें, वह शिष्य कितना पात्र होगा? 'परंतु हीरा मुख से न कहे बड़ो हमारो मोल'। आचार्यदेव लोकोत्तर विनय से कहते हैं कि श्रीगुरु जो कि बिल्कुल नग्न, आत्मध्यान में मग्न, अप्रमत्त गुणस्थान की वीतरागी दशा में लीन थे; परंतु 'अन्य जीव धर्म प्रापत करें तो ठीक' ऐसी शुभवृत्ति उठने पर उपदेश देते, और पुनः वह वृत्ति छूटने पर आत्म-रमणता में स्थिर हो जाते, ऐसे गुरु के पास से हमें उपदेश मिला है - ऐसा कहने पर उपदेश लेनेवाले की योग्यता ज्ञात होती है।

अनंतकाल में जो वस्तु समझी नहीं, उसे समझने के लिये विशेष पात्रता चाहिये। संसार-व्यवहार में अनीति का त्याग, इंद्रिय-विषयों में अल्प आसक्ति, आत्मतत्त्व की जिज्ञासा, निर्मानता, सज्जनता, सत् समझने का प्रेम इत्यादि होना चाहिये। चौरासी लाख के बंध का त्याग, संसार की अशरणता, पराधीनता के दुःखों का विचार करके परमसत्य की अंतर में तीव्र जिज्ञासा हो, उसे पात्रता प्रगट होती है। जिसे भव की थकान लगी हो, आत्मा कैसा है, यह समझने की जिज्ञासा हो, उसे सच्चे गुरु मिलते ही है।

और यह निज वैभव, निरंतर स्वाद में आते हुए सुंदर अतीन्द्रिय आनंद की मुद्रा से युक्त प्रचुर संवेदनरूप स्व-संवेदन से जन्मा है। यहाँ आचार्य प्रभु अपनी वर्तमान स्थिति की बात करते हैं। जैसे पर्वत में से झरना झरता है, उसीप्रकार अंतर में तीन कषाय टूट कर आत्मा की शांति और समृद्धि से निरंतर स्वरूपलीनता का आनंद झरता है। आचार्यदेव ने धारावाही शांति का अनाकुल स्वाद स्वयं लिया है और फिर उपदेश की वृत्ति उठने पर इस शास्त्र की रचना हुई है।

संसार में सुख मानकर जगत् आकुलता का वेदन करता है। संसार के कल्पित आनंद से

भिन्न जाति का अतीन्द्रिय निराकुल आनंद ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का लक्षण है। आत्मानुभव बिना मात्र शुभभाव का आनंद आत्मा का आनंद नहीं है। आचार्यदेव तो निर्ग्रंथ मुनि हैं, अतः विशेष स्थिरता में आकर कहते हैं कि हमें प्रचुर संवेदन प्रगट है। चतुर्थ गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को गृहस्थदशा में आत्मा का आनंद होता है, परंतु विशेष नहीं होता। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए मुनिराज को केवलज्ञानी भगवान के समान पूर्णानंद नहीं होता, उन्हें मध्यम दशा का उत्तम आनंद वर्तता है।

आचार्यदेव ने अपने आत्म-वैभव प्रगट होने के चार कारण कहे हैं (१) शब्दब्रह्मरूप परमागम की सेवा (२) कुमत एवं कुतर्क का खंडन करनेवाली निर्बाध युक्तियों का अवलंबन (३) सर्वज्ञ भगवान की परंपरा में हुए गुरुओं का उपदेश एवं (४) स्वानुभव।

उपरोक्त चार कारणों द्वारा प्रगट हुए संपूर्ण निज वैभव से आत्मा का वर्णन करने का मैंने व्यवसाय किया है। 'यदि मैं दिखाऊँ तो तुम प्रमाण करना', ऐसा कहकर वक्ता और श्रोता के भावों में एकता स्थापित की है। 'मैं अविरुद्ध निर्णय से कहूँगा और जो तुम वैसा ही समझो तो भूल नहीं होगी'। कुतर्क एवं विवाद से पार नहीं पा सकते, स्वयं प्रत्यक्ष स्वानुभव से परीक्षा करके प्रमाण करना। अन्तःतत्त्व में बाह्य परीक्षा कार्यकारी नहीं है। स्वयं ने तो शुद्ध तत्त्व का अनुभव करके कहा ही है, परंतु श्रोता को भी उत्तरदायित्व सौंपा है कि तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा मन और इंद्रियों से अगोचर है, उसे जो अंतर-ज्ञानस्वभाव से जानने का प्रयत्न करेगा, उसे हमारे समान प्रत्यक्ष होगा ही।

सत्य उपदेश सुनते ही जहाँ अंतर में समझपूर्वक पूर्ण सत्य का स्वीकार किया, वहाँ अल्पकाल में पूर्ण चारित्र प्रगट हुए बिना नहीं रहता। पूर्ण होने के पहले, पूर्ण के भान द्वारा, पूर्ण को ही देखने से अनंत राग टल गया है और शेष अल्प राग भी अवश्य नष्ट होगा।

आचार्यदेव अपनी निर्मानता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि अनुभव से प्रमाण करना। वेदन अथवा अनुभव में तो अंतर नहीं है; परंतु शब्द, व्याकरण, अलंकार आदि में अंतर पड़ जाये या युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण करने में सावधान मत होना। शब्दों की भूल का ख्याल आने पर उसकी पकड़ न करके आत्मा के अनुभव पर वजन रखना।

आचार्य कहते हैं कि हम अनुभवाश्रित बात करते हैं, अतः आशय ग्रहण करना। दुर्जनों के समान शब्द आदि की पकड़ नहीं करना। छद्मस्थता है, क्षयोपशमज्ञान है; अतः व्याकरणादि की भूल का ख्याल नहीं रखना, अनुभव प्रयोजनभूत है। शास्त्र-समुद्र में बहुत से प्रकरण हैं, जिनमें यहाँ स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है, अतः यहाँ अर्थ की परीक्षा करके, अनुभव की प्रधानता से शुद्धस्वरूप का निश्चय करो।

इसप्रकार यहाँ आचार्यदेव शुद्धात्मा के स्वरूप का वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं एवं उसे समझने का निश्छल प्रयत्न करने की प्रेरणा दे रहे हैं।

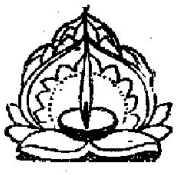

गाँव-गाँव में वीतराग-विज्ञान पाठशालायें खोलकर तत्त्व-प्रचार में अपना अमूल्य सहयोग दीजिए।

जितभवमभिवन्दे

परमपूज्य सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' नामक ग्रंथराज पर मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने 'तत्त्वार्थवृत्ति' नामक अत्यंत गंभीर संस्कृत टीका लिखी है।

उक्त संस्कृत टीका के मंगलाचरण पर हुए पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है।

त्वयि सति परमात्मन्मादृशान्मोहमुग्धान्, कथमतनुवशत्वान्बुद्धकेशान्यजेऽहम्।
सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा, जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा॥१॥

हे परमात्मा! तेरे होते हुए मैं अपने जैसे मोहमुग्ध और कामवश बुद्धिादि को क्यों पूजूँ? जिसने भवों को जीता है, मैं तो उसकी वंदना करता हूँ। उसे प्रकाशमान श्रीजिन कहो, सुगत कहो, गिरधर कहो, वागीश्वर कहो या शिव कहो॥१॥

इस नियमसार में कितना ही वर्णन तो समयसार से भी अधिक ऊँचा है। टीका में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने कारणशुद्धपर्याय आदि का अलौकिक अपूर्व वर्णन किया है।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव हैं, वे आचार्य नहीं हैं, मुनि हैं; तो भी टीका में अलौकिक रहस्य प्रगट किया है। अंतर में आत्मपदार्थ को स्पर्श करके यह अलौकिक बात निकली है। जो पात्र हो उसे समझ में आ सकती है।

मंगलाचरण में कहते हैं कि हे परमात्मा! हे सर्वज्ञ जिन! आपके इस जगत में होते हुए मैं अपने जैसे मोहमुग्ध और कामवश बुद्धादि को क्यों भजूँ, क्यों पूजूँ?

मेरे जैसे 'अर्थात् संसारी जैसे'। यद्यपि वे सर्वप्रकार से टीकाकार जैसे नहीं हैं, क्योंकि टीकाकार तो छठे-सातवें गुणस्थान में झूलते मुनि हैं और जिनकी बात करनी है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं।

तथापि टीकाकार मुनिराज ने विनयवश ऐसा कहा है। जो आत्मस्वरूप के वश नहीं हैं,

वे ही काम के वश वर्तते हैं। भले बाह्य में स्त्री आदि के त्यागी हों तो भी जो आत्मा के वश नहीं, वे काम के ही वश हैं। मोहमुग्ध और कामवश कहकर मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्र को इंगित किया है। जो राग और निमित्त को भला कहते हैं और चैतन्य की पूर्णता की प्रतीति करते नहीं, वे सब भले ही देव कहे जाते हों तो भी वे मोहमुग्ध और कामवश हैं, पूज्य नहीं।

अन्तर में परमात्मस्वभाव का जिनको भान नहीं और जो मोहमुग्ध हैं, ऐसे लौकिक देवों को मैं कैसे पूजूँ? हे नाथ! आपने ही भवों को जीता है। अंतर में चैतन्यस्वभाव का भान करके जिसने भवों को जीत लिया, ऐसे परमात्मा ही पूज्य हैं।

हे नाथ! भव तो एक समय जितना ही विकृतभाव था और ध्रुवस्वभाव का भान करके आपने उस भव के बीज का नाश किया तथा भव के अभाव का भाव प्रगट किया, अतः आप ही हमारे पूज्य हो। मोक्ष होने के पश्चात् भी फिर से जगत का उद्धार करने के लिये अवतार लेना पड़े, ऐसा जो मानते हैं, उन्होंने वास्तव में भवों को जीता ही नहीं। अपने पूर्ण स्वभाव की प्रतीति और आदर करनेवाला मैं उसी का आदर करता हूँ जिसकी पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गयी है। जिसको भवरहित निरपेक्ष आत्मस्वभाव की खबर नहीं, उसकी मैं वंदना नहीं करता। मैं तो भव को जीतनेवाले मार्ग का पथिक हूँ, भव के अभावरूप स्वभाव का मुझे भान हुआ है, अब मेरे अधिक भव रहे नहीं, एकाध भव होगा भी तो वह टलने के लिये है; इसलिये जिन्होंन भवों को जीता है, उन्हें ही मैं नमस्कार करता हूँ।

जिसे एक भी शुभराग का आदर है, उसको अनंत भव का आदर है। जिसको स्वभाव का बहुमान है, उसको भव का या राग का आदर नहीं होता। अहो! जिसके स्वभाव में से भव गया, सो गया, फिर दुबारा अवतार नहीं होता, ऐसे जिनराज को मैं नमन करता हूँ। यहाँ नमस्कार का जो विकल्प है, उसका आदर नहीं है; किंतु परमात्मदशा का आदर है। भव का अभाव का डंका पीटा है।

भव के अभाव-स्वभाव को प्राप्त परमात्मा की वाणी का हमने परीक्षापूर्वक निर्णय किया है। अतः ऐसे परमात्मा को ही नमन करते हैं। उस परमात्मा को चाहे श्री जिन कहो, सुगत कहो, गिरधर कहो, वागीश्वर या शिव कहो, कुछ भी नाम से कहो, उसे हम नमस्कार करते हैं।

बुद्ध को सुगत कहा जाता है। सुगत अर्थात् (१) शोभनीकता को प्राप्त अथवा (२) संपूर्णता को प्राप्त। श्री जिनभगवान मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण शोभानीकता को प्राप्त हैं और केवलज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है, इसलिये संपूर्णता को प्राप्त हैं, अतः उन्हीं को यहाँ सुगत कहा गया है। हे नाथ! जो रागी-द्वेषी है, वह शोभनीक नहीं; आप ही मोह-राग-द्वेषरहित होने से शोभनीक हो और आप ही केवलज्ञान को प्राप्त होने से सुगत हो। आपके अतिरिक्त अन्य कोई वंदनीय नहीं। आपके मोहादि का अभाव है और केवलज्ञानादि का सद्भाव है, ऐसा कहकर अस्ति-नास्ति से वर्णन किया है। हे भगवान! आपने भव का नाश किया है और ज्ञानमूर्ति आत्मा रहा है; अतः आप ही जिन हो, आप ही पूज्य हो, आपके अलावा अन्य रागी-द्वेषी-मोही जीवों को हम मानते नहीं हैं।

श्रीकृष्ण को गिरधर (अर्थात् पर्वत को धारण करनेवाले) कहा जाता है। यहाँ श्री जिनराज को अनंत वीर्यवान होने से गिरधर कहा गया है। स्वरूप रचना की सामर्थ्यरूप वीर्य से जिन्होंने अखंड आत्मा को धारण कर रखा है, वे ही सच्चे गिरधर हैं। अनंत गुण के पहाड़रूप संपूर्ण आत्मा को आपने धारण किया है, इसलिये आप ही गिरधर हो।

ब्रह्मा अथवा बृहस्पति को वागीश्वर (अर्थात् वाणी का अधिपति) कहा जाता है। श्री जिन भगवान दिव्यवाणी के प्रकाशक होने से उन्हीं को यहाँ वागीश्वर कहा गया है। वाक्+ईश्वर अर्थात् वाणी की ईश्वर, केवलज्ञान होने पर भगवान के दिव्यध्वनि होती है, वैसी वाणी दूसरों की नहीं होती; अतः भगवान को वाणी का ईश्वर कहा गया है।

बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा और महेश इन चारों के समक्ष भगवान को सुगत, गिरधर, वागीश्वर और शिव की उपमा दी गयी है। महेश को (शंकर को) शिव कहा जाता है। श्री जिन भगवान कल्याणस्वरूप होने से यहाँ उन्हें शिव कहा गया है।

हे कल्याणस्वरूप भगवान! आपका आत्मा भवरहित हो गया है, अतःआप ही शिव हैं। हे नाथ! आप ही पूर्ण हो और आपकी ही वाणी में परिपूर्ण कहने की शक्ति है। आपके अलावा जो जगत के बुद्धादि हैं, वे तो मोहमुग्ध और कामवश हैं; अतः पूज्य नहीं हैं। आप सर्वज्ञ परमात्मपद को प्राप्त और भवजित हो, इसलिये आप ही पूज्य हो।

ऐसे परमात्मा को हम स्वीकार करते हैं अर्थात् हमारे आत्मा का ऐसा स्वभाव ही हमें

आदरणीय है, अन्य रागादिक आरणीय नहीं; ऐसा कहकर मांगलिक किया, उसमें सर्वज्ञदेव को नमस्कार आ गया।

अब दूसरे श्लोक में जिनवाणी को नमस्कार करते हैं :-

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनाम्।
वन्दे नयद्वयायत्तवाच्यसर्वस्वपद्धतिम् ॥२॥

वाचंयमीन्द्रों का (जिनदेवों का) मुखकमल जिसका वाहन है और दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की जिसकी पद्धति है, उस वाणी की (जिन भगवंतों की स्याद्वाद मुद्रितवाणी की) मैं वंदना करता हूँ।

वाचमीन्द्रों=मुनियों में पधान अर्थात् जिनदेव; मौन सेवन करनेवालों में श्रेष्ठ अर्थात् जिनदेव; वाक् संयमियों में इन्द्रसमान अर्थात् जिनदेव (वाचंयमी - मुनि; मौन सेवन करनेवाले; वाणी के संयमी)

जिन मुनियों ने स्वरूप में स्थिर होकर वाणी के विकल्प को भी त्याग दिया है, उन्हें ही वाणी का विजेता कहते हैं और उनमें सर्वज्ञदेव - इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ हैं। वाणी का मैं कर्त्ता हूँ, ऐसा माने वह तो मिथ्यादृष्टि है। परंतु वाणी का मैं कर्त्ता नहीं, ऐसे भानपूर्वक चैतन्य में स्थिर होकर जिसने वाणी को जीत लिया है, ऐसे सर्वज्ञदेव की वाणी श्रेष्ठ निकलती है। स्याद्वादरूपी वाणी के निर्गमन का वाहन क्या है ? सर्वज्ञदेव का मुखकमल, वही वाणी का वाहन है। वह वाणी दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहनेवाली है।

आत्मा त्रिकाल शुद्ध है और उसकी पर्याय में क्षणिक अशुद्धता भी है। इसप्रकार दोनों नयों से कहा जाता है, किंतु उनमें आदरणीय दोनों नहीं हैं। त्रिकाल, सो निश्चय और वर्तमान, सो व्यवहार। उन दोनों नयों को जाना कब कहा जाये ? त्रिकाल को जानते हुए ज्ञान का जोर जब उस त्रिकाल की तरफ झुक जाये, तब वर्तमान तो मात्र जानने के लिये ही रहता है। इसका नाम दो नयों का ज्ञान है। परंतु निश्चय भी आदरणीय और व्यवहार भी आदरणीय - ऐसा माने तो यह दोनों नयों का यथार्थ ज्ञान नहीं है।

दो नयों के आश्रय से संपूर्ण कथन करनेवाली जिनवाणी है, किंतु उन दो नयों में

आदरणीय तो एक निश्चय ही है, व्यवहार तो मात्र ज्ञेय है। त्रिकाली स्वभाव का आदर करके उस तरफ ढलता हुआ ज्ञान निश्चय है और वर्तमान विषय को जानता हुआ ज्ञान व्यवहार है। इसप्रकार दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कथन करनेवाली जिनवाणी को मैं नमस्कार करता हूँ।

स्वभाव का आदर करते हुए बीच में विकल्प उठने पर देव-गुरु-शास्त्र का बहुमान करता है, वह भी राग है, वह राग के कारण नहीं है, अर्थात् स्वभाव के आश्रय से उस विकल्प को तोड़ डालेगा। स्वभाव में राग नहीं और पर के कारण भी राग नहीं। जो पर के कारण राग माने तो अनंत परद्रव्य त्रिकाल जगत में रहनेवाले हैं, इसलिये उनका राग भी त्रिकाल रहनेवाला हो जायेगा। यह मिथ्यादृष्टि का राग है।

हे नाथ! आप वचन के संयमियों में श्रेष्ठ; और आपकी वाणी भी श्रेष्ठ है। आपकी वाणी दो नयों के आश्रय से पूर्ण कथक है उस वाणी की मैं वंदना करता हूँ। मुझे विकल्प उठा है इसलिये वंदना करता हूँ। परंतु उसमें परमात्मा और उनकी वाणी के अतिरिक्त किसी अन्य पर लक्ष्य नहीं जाता। इसप्रकार भगवान और भगवान की वाणी को वंदन करके मांगलिक किया।

(क्रमशः)

आवश्यक सूचना

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर की दिनांक २, ३ व ४ फरवरी १९७७ को होनेवाली समस्त परीक्षाएँ अब क्रमशः १४, १५ व १६ फरवरी १९७७ को होंगी। इसकी सूचना संबंधित समस्त केंद्रों को पोस्टकार्ड द्वारा दिनांक ८-१-७७ को दी जा चुकी है। परीक्षा के प्रश्न-पत्र हम दिनांक ३१-१-७७ तक सर्वत्र भेज चुके हैं। जिन्हें अभी तक न मिले हों वे तत्काल सूचित करें।

— मंत्री, परीक्षा बोर्ड

आवश्यकता है - एक अनुभवी, योग्य, कानूनी सलाहकार की। सेवा-निवृत्त शासकीय अधिकारी को प्राथमिकता दी जावेगी। अधिकांश कार्य श्री दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्रों के सर्वेक्षण के लिये भ्रमणशील पार्टी के साथ रहकर कानूनी दृष्टि से सहयोग देने का रहेगा। नियुक्ति अविलंब करनी है, अतः तत्काल लिखें। उचित वेतन व अन्य सुविधाएँ प्राप्त रहेंगी।

—ज्ञानचंद जैन, संयोजक : श्री कुन्दकन्द कहान दिगम्बर
जैन तीर्थ सर्वेक्षण समिति, द्वारा ज्ञानानंद निवास, किला अंदर, विदिशा (म.प्र.)

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ – इन पाँच प्रकार से शास्त्र का अर्थ होता है। मूलसूत्र के शब्दानुसार अर्थ करना, वह शब्दार्थ है। वह कथन किस नय का है, यह समझना वह नयार्थ है।

'सम्यग्दृष्टि जीव सचेत-अचेत (कुटुंब परिवार और बाह्य वैभव) वस्तु को भोगता हुआ ही निर्जरा करता है।' ऐसा वचन शास्त्र में आया, वहाँ उसका आशय समझे बिना ऐसा ही कह देता है कि 'आत्मा पर को नहीं भोग सकता' तो वह ठीक नहीं है। पहिले शास्त्र में जैसा कथन है, वैसा उसका शब्दार्थ समझना चाहिये। शास्त्र शब्दार्थ न समझे, तब उसका आशय कहाँ से समझेगा? पहिले शास्त्र में क्या कहा है? वह तो समझना चाहिये, और शब्दार्थ समझने के पश्चात् वह किस नय का कथन है, वह समझना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि जीव सचेत-अचेत वस्तु को भोगता हुआ भी निर्जरा करता है। इस कथन में भोगने की बात तो निमित्त-नैमित्तिक संबंध के व्यवहार से कही है। इसलिये वह कथन व्यवहारनय का है। और उस समय उसको अंतर की (आंतरिक) दृष्टि मौजूद है, उसके प्रभाव से निर्जरा होती है। निर्जरा तो निश्चयदृष्टि के प्रभाव से होती है, किंतु उपचार से सचेत-अचेत के उपभोग को भी निर्जरा का कारण कह दिया है। पर को भोगता है – इसप्रकार जो कहा है – अज्ञानी तो संयोग को देखता है, इस दृष्टि से कहा है।

'जीव को और शरीर को अभिन्नता है, ऐसी श्रद्धा करना', ऐसा 'जयधवल' में कहा है किंतु निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा संयोग संबंध है, इस अपेक्षा से अभिन्नता कही है, इसलिये कोई भी कथन का शब्दार्थ, नयार्थ वगैरह समझना चाहिये। राग है, इससे आत्मा के और शरीर के निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, इतना ज्ञान कराने के लिये अभिन्नता कह दी है। आत्मा को

सर्वथा सिद्धदशा नहीं हुई और पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान भी नहीं हुआ, इससे निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, उसका ज्ञान कराया है - ऐसा इस कथन का भावार्थ है।

'जयधवल' में कहते हैं कि जो क्रोधभाव के निमित्त हैं, वे भी क्रोध हैं। सम्यग्ज्ञान का प्रसंग चलता हो, वहाँ जिसे उदासीनता और द्वेष उत्पन्न हो, उसके द्वेष में ज्ञान निमित्त है - इससे उपचार से, नैगमनय ज्ञान को भी द्वेष कह देता है। इस रीति से सिद्ध आदि सभी पदार्थों के द्वेष कहा जाता है, उसीप्रकार राग भी कहा जाता है। जीव राग-द्वेष का निमित्त बनावे वहाँ समक्ष वस्तु को राग या द्वेष कहते हैं, इसप्रकार भी एक नय है।

इसप्रकार से जो जिस नय का कथन हो, उसे यथार्थ समझना चाहिये।

यहाँ दूसरी गाथा का मतार्थ कहते हैं। जैनमत में कहा हुआ वस्तु का क्या स्वरूप है? अन्यमत में क्या विपरीतता है? उसे समझना, उसका नाम मतार्थ है। दूसरी गाथा में जीव के नौ अधिकार कहे, उसमें मतार्थ इसप्रकार है :-

(१) **'जीव'** कहा, वहाँ चार्वाक आदि अन्यमतवाले जो जीव को नहीं मानते, उनका निषेध हो गया।

(२) जीव को **'उपयोगमय'** कहा, वहाँ नैयायिकमतवाले गुण-गुणी को सर्वथा भिन्न मानते हैं, उनका खंडन हुआ।

(३) भट्ट तथा चार्वाकमतवाले जीव को अमूर्त नहीं मानते। उनके सामने यहाँ जीव के **'अमूर्तपने'** का स्थापन किया।

(४) **जीव कर्म का कर्ता है** - ऐसा कहा, वहाँ सांख्यमतवाले आत्मा को सर्वथा कूटस्थ मानते हैं, उनका निषेध हुआ।

(५) **आत्मा शरीरप्रमाण है** - ऐसा कहा, वहाँ नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमतवाले आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, उनका खंडन हुआ।

(६) **भोक्तापना कहा,** उसमें सर्वथा क्षणिक माननेवाले बौद्धमत का निषेध हुआ, सर्वथा क्षणिक तत्त्व में भोक्तापना नहीं होता। जो जीव करता है, उसे ही जीव भोगता है, ऐसा कहकर जीव की नित्यता, उसप्रकार ही अनित्यता साबित हुई

और बौद्ध आदि अन्यमती जीव को भोक्ता नहीं मानते, उनका निषेध हुआ।

(७) **आत्मा संसारस्थ है** – ऐसा कहा, वहाँ सदाशिवमतवाले आत्मा को हमेशा सिद्ध समान मानते हैं, उनका निषेध हुआ।

(८) **आत्मा सिद्ध है** – ऐसा कहा, वहाँ जो भट्ट और चार्वामत वाले या जो मोक्ष को तथा सिद्ध को नहीं मानते, उनका निषेध हुआ।

(९) **जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है** – ऐसा कहा, यह कथन जैनदर्शन सिवाय अन्य समस्त मतों का नहीं है। क्योंकि आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है, यह जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य कोई मत नहीं मानता।

सत्य क्या है ? और उससे विपरीत मत क्या है ? उन दोनों का निर्णय करना चाहिये।

चौथा भेद आगमार्थ है, वह तो शास्त्र से प्रसिद्ध है। जो कथन आया हो, वह कथन शास्त्र में दूसरी जगह कहाँ है ? ऐसा आगम के साथ मिलान करके समझना, वह आगमार्थ है।

पाँचवाँ भेद भावार्थ है। शब्दार्थ, नयार्थ वगैरह जानकर बाद में उसका आशय क्या है ? यह समझना, उसका नाम भावार्थ है। सब जानकर शुद्ध ज्ञायक चैतन्यभाव, वही उपादेय है और अन्य सब हेय हैं; ज्ञान तो सबका करे परंतु ज्ञान करके उसमें से ऐसा आशय निकाले कि मेरे लिये शुद्ध चिदानंदस्वभाव ही आदरणीय है, और अन्य सब हेय (छोड़नेयोग्य) है – ऐसा शास्त्र का भावार्थ है। किंतु पहले जाने तो बाद में उसमें हेय-उपादेय समझे न ? जाने ही नहीं, तो हेय-उपादेय कहाँ से समझेगा ? जाननेयोग्य तो स्व और पर सभी हैं; किंतु उपादेयपने में तो एक शुद्ध चिदानंदस्वभाव ही है, अन्य सब हेय हैं, ऐसा भावार्थ है।

इसप्रकार से शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ इन पाँचों भेद से प्रत्येक शास्त्र के प्रत्येक सूत्र का अर्थ समझना चाहिये।

शास्त्र में कहीं-कहीं ऐसा कहते हैं कि शरीर की नग्न दिगम्बरदशा, वह मुनिपना है। इसप्रकार से द्रव्यलिंग को ही मुनिपना कह दिया है। वहाँ निमित्त कैसा हो, वह बताने के लिये व्यवहारनय का कथन है, ऐसा समझना चाहिये। उसके बदले दूसरे प्रकार से निमित्त माने, वस्त्रसहित मुनिदशा माने, वह तो अन्यमत है – यह मतार्थ है। और व्यवहारनय से द्रव्यलिंग

को मुनिपना कहा, वहाँ वह शरीर की दशा को ही निश्चय से मुनिदशा मान ले और अंदर की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा को नहीं समझे, तो वह जीव नयार्थ को नहीं समझा।

शास्त्र में इसप्रकार कहते हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता, सम्यग्दर्शन स्वयं से ही होता है, वहाँ वह निश्चयनय का कथन है। वहाँ कोई ऐसा समझ ले कि चाहे जैसे कुगुरु के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन हो जाये तो वह जीव शास्त्र के अर्थ को नहीं समझा।

अरे भाई! सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान वह स्वयं से ही होता है, लेकिन उस समय सम्यग्ज्ञानी ही निमित्त होता है। उस निमित्त को नहीं माने तो वह अज्ञानी है। स्वयं के ज्ञान में जो उसके उपकार को भूल जाये या गुरु का नाम छुपाये तो वह जीव ज्ञानावरणीय कर्म बाँधता है। जीव व्यवहार में भी ज्ञान का चोर है, निश्चय से तो वह चोर है ही। सच्चे ज्ञान में ज्ञानी का ही निमित्त होता है, उसे नहीं स्वीकारे और उपकारी गुरु का नाम छुपाये तो वह बड़ा मायावी है।

श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं :-

बुझी चहत जो प्यास को, है बूझन की रीत।
पावे नहीं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित॥

देखो! ज्ञान तो स्वयं को स्वयं की योग्यता से ही प्राप्त होता है, किंतु उस समय कैसा निमित्त होता है, उसका ज्ञान करना चाहिये। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे हों? उसकी भी अभी तक जिसको खबर नहीं है, उसको हेय-उपादेय तत्त्व का विवेक नहीं हो सकता। इसलिये सभी प्रहलुओं से वस्तुस्थिति समझना चाहिये। *(क्रमशः)*

प्रतिदिन एक घंटा सामूहिक स्वाध्याय अवश्य कीजिए।

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– आगम का व्यवहार क्या है और अध्यात्म का व्यवहार क्या है ?

उत्तर– अध्यात्म में शुद्धद्रव्य को निश्चय कहते हैं और शुद्धपरिणति को व्यवहार कहते हैं। जबकि आगम में शुद्धपरिणति को निश्चय कहते हैं और उसके साथ वर्तते हुए शुभपरिणाम को व्यवहार कहते हैं।

प्रश्न– निश्चय है, वह मुख्य है या मुख्य है, वह निश्चय है ?

उत्तर– मुख्य है वही निश्चय है। यदि निश्चय को मुख्य कहा जावे तो पर्याय भी निश्चय है, अतः वह भी मुख्य हो जावेगी; किंतु ऐसा नहीं है। मुख्य है, वही निश्चय है और गौण है, वह व्यवहार है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस विषय का विशद् स्पष्टीकरण किया गया है। श्रद्धा में त्रिकाल स्ववस्तु एक ही मुख्य है।

प्रश्न– पंच परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से है अथवा निश्चय से ?

उत्तर– पंच परावर्तन में अपने भावों से ही भटकता है, अतः निश्चय से है। परंतु त्रिकाली ध्रुवस्वभाव की अपेक्षा से पंच परावर्तन के भाव पर्याय में होने से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। पंच परावर्तन में जीव भटकता है, वह व्यवहार से भटकता है – ऐसा नहीं है, किंतु निश्चय से ही भटकता है। प्रवचनसार में जीव के विकार भाव को निश्चय कहा गया है।

प्रश्न– त्रिकाली निष्क्रिय चैतन्य ही परमार्थ है। बंध और मोक्ष की पर्याय को करे वह तो व्यवहार जीव है। तो बताइए कि कितने प्रकार के जीव हैं ?

उत्तर– दो प्रकार के जीव हैं। एक परमार्थ जीव और दूसरा व्यवहार जीव। परमार्थ जीव तो

त्रिकाल निष्क्रिय मोक्षस्वरूप ही है, और बंध-मोक्षस्वरूप से पर्याय परिणमन करती है, वह व्यवहार जीव है।

प्रश्न- जिस घर में जाना न हो, उसके जानने का क्या काम ? उसीप्रकार व्यवहार तो छोड़ने योग्य है, तब फिर उसके जानने का क्या काम है ?

उत्तर- जिस घर में न जाना हो, उसको भी जानना चाहिये। यह घर अपना नहीं है, किंतु दूसरे का है - इसप्रकार जानना आवश्यक है। उसीप्रकार पर्याय का आश्रय करने का जहाँ निषेध किया है, वहाँ उसका ज्ञान भी न करे तो एकांत हो जावेगा, प्रमाणज्ञान नहीं होगा। पर्याय का आश्रय छोड़नेयोग्य होने पर भी, जैसी वह है, वैसा ज्ञान तो करना ही पड़ेगा और तभी निश्चयनय का ज्ञान सच्चा होगा।

प्रश्न- शुद्धात्मा की रुचिरूप सम्यग्दर्शन को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा गया है। उस निश्चय सम्यग्दर्शन के सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद क्यों ?

उत्तर- निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ वर्तते हुए राग को बताने के लिये निश्चय सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा जाता है। वहाँ सम्यग्दर्शन तो निश्चय ही है, परंतु साथ में प्रवर्तमान शुभराग का व्यवहार है, अतः उसका संबंध बताने के लिये सराग सम्यक्त्व कहने में आता है। गृहस्थाश्रम में स्थित तीर्थंकर, भरत सगर आदि चक्री तथा राम, पाण्डव आदि को सम्यग्दर्शन तो निश्चय था, तथापि उसके साथ वर्तते हुए शुभराग का संबंध बताने के लिये उन्हें सराग सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। यहाँ मूल प्रयोजन वीतरागता पर वजन देना है। इसलिये निश्चय सम्यक्त्व होने पर भी उसे सराग सम्यक्त्व कहा गया है और उसे वीतरागत सम्यक्त्व का परंपरा साधक कहा है। शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन में सराग और वीतराग के भेद नहीं हैं। है तो एक-सा सम्यग्दर्शन; किंतु जहाँ स्थिरता की मुख्यता का कथन चलता हो, वहाँ सम्यक्त्व के साथ वर्तते हुए राग के संबंध को देखकर उसे सराग सम्यक्त्व कहा है और रागरहित संयमी के वीतराग सम्यक्त्व कहा है, क्योंकि जैसा वीतरागस्वभाव है, वैसा ही वीतरागी परिणमन भी हुआ है, अतः वीतरागता का संबंध देखकर, उसे वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है।

प्रश्न– सराग सम्यक्त्व किस गुण की पर्याय है ?

उत्तर– सराग सम्यक्त्व है तो श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय; किंतु उसके साथ राग का दोष विद्यमान है, अतः इतना संबंध देखकर ही उस सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा है। सम्यक्त्व के निर्मल होने पर भी उसके साथ में प्रवर्तमान राग का दोष बताने के लिये तथा चारित्र पर वजन देने के लिये सम्यक्त्व को सराग सम्यक्त्व कहा गया है।

प्रश्न– विकल्पसहित निर्णय करना सामान्य श्रद्धा और निर्विकल्प अनुभव करना विशेष श्रद्धा–क्या यह ठीक है ?

उत्तर– नहीं, श्रद्धा में सामान्य–विशेष का भेद ही नहीं। अखंड आत्मा की निर्विकल्प अनुभवसहित प्रतीति करना, वही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन करनेवाले जीव को प्रथम 'आत्मा ज्ञानस्वरूप है' ऐसा विकल्पसहित निर्णय होता है, तत्पश्चात् जब निर्विकल्प अनुभव करता है, तब पहले के विकल्पसहित किये गये निर्णय को व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्न– स्वानुभव करने के लिये छह मास अभ्यास करना बताया – वह अभ्यास क्या करना ?

उत्तर– 'राग, वह मैं नहीं', 'ज्ञायक, वह मैं हूँ' – इसप्रकार ज्ञायक की दृढ़ता जिसमें हो, वैसा बारंबार अभ्यास करना।

प्रश्न– पर्याय व्यय होकर द्रव्य में ही समाविष्ट हो जाती है। यदि ऐसा है तो क्या अनंत अशुद्ध पर्यायों के द्रव्य में समावेश हो जाने से द्रव्य को हानि नहीं पहुँचती ?

उत्तर– अशुद्धता तो प्रकट पर्याय में अर्थात् मात्र वर्तमान वर्तती हुई पर्याय में ही निमित्त के लक्ष्य से होती है। पर्याय व्यय होकर द्रव्य में समा जाने पर पर्याय, पर्यायरूप से नहीं रहती, अपितु पारिणामिकभावरूप हो जाती है। द्रव्य में विकार पड़ा नहीं, इसलिये उसमें कभी भी हानि नहीं होती।

प्रश्न– प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतंत्र और निरपेक्ष है, तो भी जब जीव को राग होता है, तभी परमाणु कर्मरूप से क्यों परिणमन करता है ?

उत्तर– जीव को राग हुआ है, उससे परमाणु कर्मरूप से परिणमित नहीं हुआ है; किंतु परमाणु

के कर्मरूप से परिणमित होने का वही स्वकाल होने से जीव के राग की अपेक्षा बिना ही स्वतंत्ररूपेण परमाणु कर्मरूप से परिणमन करता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध सहज है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध की सहजता का अज्ञानी को भान न होने से ही उसे दो द्रव्यों में कर्त्ता-कर्मपने का भ्रम होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन को पर की अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही परिणमन कर रहा है।

प्रश्न- पर्याय द्रव्य को तन्मय होकर जानती है अथवा अतन्मय रहकर जानती है ?

उत्तर- पर्याय अतन्मय रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय द्रव्य में तन्मय होती है, यह तो जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख होती है, तब तन्मय हुई, ऐसा कहने में आता है। अज्ञानदशा में राग के सन्मुख पर्याय थी, इसलिये उस समय उसे राग से तन्मय कहा जाता है। और जब पर्याय द्रव्य के सन्मुख हुई तो उसे द्रव्य में तन्मय कहा जाता है। किंतु तन्मय का अर्थ पर्याय, द्रव्य में मिलकर एकरूप हो जाती है, ऐसा नहीं है, पर्याय तो पर्याय में रहकर द्रव्य को जानती है। पर्याय, पर्याय से है और द्रव्य, द्रव्य से है। परद्रव्य से भिन्नता सिद्ध करनी हो, तब ऐसा कहते हैं कि पर्याय से द्रव्य जुदा नहीं है, किंतु जब एक वस्तु के दो धर्म सिद्ध करने हों तो पर्याय से द्रव्य भिन्न है - ऐसा समझना। जब जिस अपेक्षा से कहने का जो आशय हो, उसे यथायोग्य समझना चाहिये।

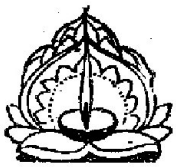

समाचार दर्शन

विद्वद्वर्य श्री बाबूभाई मेहता का महत्त्वपूर्ण दौरा

गत एक माह तक श्री बाबूभाई मेहता ने अनेक स्थानों का महत्त्वपूर्ण दौरा किया। प्राप्त समाचारों के अनुसार अभी आप अशोकनगर, चंदेरी, ललितपुर, झांसी, गुना, मुंगावली, राघौगढ़, आरोंन, पिपरई गाँव, शिवपुरी, गंजबासौदा, मंडी बामौरा, विदिशा, भोपाल, बेगमगंज, सिलवानी आदि अनेक स्थानों पर पधारे। आपके पधारने से समाज को आपके आध्यात्मिक प्रवचनों का धर्मलाभ तो प्राप्त हुआ ही, साथ ही श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को भी समस्त स्थानों पर समाज से महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ। सब जगह से विस्तार से समाचार आ रहे हैं, सबका देना संभव नहीं है। **— प्रबंध संपादक**

स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन

आरोन – विगत दिनों यहाँ श्री बाबूभाई मेहता के पधारने से अपूर्व धर्मलाभ हुआ। आपके तीनों समय मोक्षमार्गप्रकाशक पर मार्मिक प्रवचन हुए, जिससे समाज में महती धर्मप्रभावना हुई। श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट को समाज ने अच्छा सहयोग दिया। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर का उद्घाटन भी आदरणीय श्री बाबूभाई मेहता द्वारा संपन्न हुआ।

— विजय कौछल

श्री सम्मेदशिखरजी में शिक्षण शिविर

शाश्वत तीर्थधाम श्री सम्मेदशिखरजी में फाल्गुन की अष्टाह्निका में दिनांक २६ फरवरी से ५ मार्च १९७७ तक शिक्षण शिविर का आयोजन किया जा रहा है। इस शिविर में अध्यात्मप्रवक्ता पंडित बाबूभाई मेहता, डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा के पधारने की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। इनके अतिरिक्त श्री लालचंदभाई, श्री खेमजीभाई तथा श्री युगलजी आदि अन्य विशिष्ट विद्वानों को भी आमंत्रित किया गया है। इनके पधारने की भी आशा है। धर्मप्रेमी समाज को आध्यात्मिक प्रवचनों के लाभ के साथ-साथ धार्मिक कक्षाओं में अध्ययन का भी लाभ प्राप्त होगा। इन कक्षाओं में नवीन शिक्षण-पद्धति से गूढ़

तत्त्वों को सरल ढंग से समझाया जाता है। आशा है समाज अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करेगा।

– रतनलाल गंगवाल

श्री वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं की निरीक्षण रिपोर्ट

समिति के निरीक्षक पंडित गोविन्दप्रसादजी खडेरीवालों द्वारा पाठशालाओं के निरीक्षण का कार्य लगभग तीन माह से चल रहा है। गतांक में प्रकाशित रिपोर्ट के पश्चात् उन्होंने पथरिया, दमोह, अभाना, जवेरा, कटंगी, वरेठ, खडेरी, तिगोडा, बकस्वाहा, गंजबासौदा, विदिशा, शमशाबाद, बेगमगंज, रायसेन आदि स्थानों में चल रही पाठशालाओं का निरीक्षण किया। कटंगी, जबेरा, दमोह व विदिशा में चल रही पाठशालाओं के संबंध में उनकी बहुत ही प्रशंसात्मक रिपोर्ट है। वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं के प्रति दो-चार स्थानों को छोड़कर सर्वत्र बहुत अच्छी भावना है। सब लोग इन पाठशालाओं के कार्यों को बहुत श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

इन गाँवों के आस-पास अनेक ऐसे गाँव हैं जहाँ पाठशालाएँ चलाना आवश्यक है, वहाँ के भाई तदर्थ उत्सुक भी हैं। उन गाँववालों ने पंडितजी से बहुत-बहुत आग्रह किया कि आप हमारे गाँव पधारें, हम पाठशाला प्रारंभ करेंगे, परंतु पंडितजी का आगे का कार्यक्रम निश्चित होने से जा नहीं सके। अगले कार्यक्रम में उन स्थानों को विशेष महत्त्व देकर कार्यक्रम निश्चित किया जायेगा।

—मंत्री, भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति

नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ

भावनगर (गुजरात) :- दीपावली के मंगल अवसर पर एक वीतराग-विज्ञान पाठशाला की स्थापना हुई, जिसमें ८० बालक / बालिकाएँ शिक्षा ले रहे हैं। यह पाठशाला भावनगर मुमुक्षु मंडल द्वारा चलाई जाती है, मंदिर में ही क्लासें चलती हैं। श्री पंडित ज्ञानचंदजी विदिशावालों ने इस पाठशाला का निरीक्षण किया एवं छात्रों की विषय की तैयारी देखकर संतोष व्यक्त किया। उन्होंने बच्चों को संबोधन भी किया।

अध्यापन-कार्य श्रीमती सरोज ए. गांधी कर रही हैं। इन्होंने विदिशा तथा ललितपुर के प्रशिक्षण-शिविरों में प्रशिक्षण प्राप्त किया है।

रजपुरा (दमोह, म.प्र.) :- श्री भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक पंडित गोविन्दप्रसादजी खडेरी वालों की प्रेरणा से यहाँ पाठशाला प्रारंभ हुई, जिसमें श्री अजितकुमार जैन को अध्यापक नियुक्त किया गया।

ग्यारसपुर (विदिशा, म.प्र.) :- २७ दिसम्बर को पंडित ज्ञानचंदजी 'स्वतंत्र' की प्रेरणा से वीतराग-विज्ञान पाठशाला का शुभारंभ हुआ। श्री दीपचंदजी वैद्य नि:शुल्क शिक्षण दे रहे हैं। पाठशाला सुचारूरूप से चल रही है।

प्रतापगढ़ :- १० जनवरी से १३ जनवरी १९७७ तक श्री पवनकुमारजी बंडी हिम्मतनगर वालों के मार्मिक प्रवचन हुए। आपने सात तत्त्व संबंधी भूलों पर उत्तम विवेचन किया। आपके प्रवचनों से जैन-जैनेतर समाज काफी प्रभावित हुई। **—सज्जनलाल सांवरिया**

श्री सिद्धचक्र मंडल विधान सानंद संपन्न

अलीगढ़ (राज०) :- विगत दिनों यहाँ श्री सिद्धचक्र मंडल विधान एवं चौबीस महाराज मंडल विधान सानंद संपन्न हुए। मुनिराज श्री सिद्धसागरज के मार्मिक प्रवचनों से समाज में अच्छी धर्म प्रभावना हुई। मुनिराजश्री यहाँ ससंघ विराज रहे हैं। आपके द्वारा प्रतिदिन प्रात: तत्त्वचर्चा तथा मध्याह्न में श्रावकधर्मप्रकाश (पद्मनंदिपंचविंशतिका के देशव्रतोद्योतन अधिकार पर श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का संग्रह) पर अनेकांतमय सारगर्भित प्रवचन होते हैं। मुनिराज ने अपने प्रवचनों में कहा कि - 'इस युग में श्री कानजीस्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द के आगम का अत्यधिक प्रचार व प्रसार किया है। गुजरात में जहाँ एक भी दिगम्बर जैन नहीं था, वहाँ आज उनके प्रभाव से लाखों दिगम्बर जैन हो गये हैं। स्वामीजी की प्रेरणा से अनेक गगनचुंबी दिगम्बर जैन मंदिरों का निर्माण हुआ है तथा लाखों की संख्या में वीतरागी-सत्साहित्य का प्रकाशन किया जा चुका है। श्री कानजीस्वामी द्वारा अभूतपूर्व धर्म प्रभावना हो रही है।' **—राजमल गोधा**

पाठकों के पत्र

चंदेरी (म.प्र.) से श्री प्रणवपुण्य कम्ठान, प्राध्यापक, माध महाविद्यालय लिखते हैं :-

आत्मधर्म के सभी अंक तल्लीनता से पढ़े, पढ़कर अतीव प्रसन्नता का अनुभव हुआ। सभी सामग्री अत्यंत ही श्रेष्ठ है। आपके सुयोग्य संपादन में आत्मधर्म की और भी अधिक श्रीवृद्धि हो, यही कामना है।

कालीपाल से श्री मांगीलाल 'मूगेरा', महामंत्री, ब्लॉक कांग्रेस कमेटी लिखते हैं :-

आत्मधर्म के सभी अंक पढ़े। अंक की समस्त सामग्री इतनी सुचारू, आकर्षक व मनन करने योग्य है कि जी चाहता है कि आत्मधर्म का एक शब्द भी बिना पढ़े न रह जाये। संपादकीय एवं ज्ञानगोष्ठी का संचालन जिस विवेकपूर्ण ढंग से होता है, उसके लिये आप बधाई के पात्र हैं।

नई दिल्ली से श्री जयकुमारजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म की १ तारीख से ही उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करता हूँ। इसमें विशेषतया गुरुजी के साथ इंटरव्यू व उनका किसी न किसी आध्यात्मिक विषय पर उपदेश केवल रुचिकर ही नहीं, आत्मशांति तथा आत्मोन्नति का कारण भी है।

सोलापुर से श्री विमलचंद्र भा. गाँधी लिखते है :-

आत्मधर्म का अंक पढ़ने के पश्चात् अगला अंक पढ़ने की उत्सुकता रहती है। सर्व अंक संग्राह्य बने हैं। संपादकीय चिंतन-विषय के हर पहलू पर प्रकाश डालता है।

हापुड़ से श्री विमलप्रसादजी जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म गहन सारगर्भित प्रवचन प्रकाशित कर रहा है। प्रत्येक अंक बेजोड़ व अमूल्य निधि है।

चिरगाँव (उ.प्र.) से श्री वीरेन्द्रकुमार जैन लिखते हैं :-

आत्मधर्म का प्रत्येक अंक बड़ा आकर्षक एवं सरस लगता है। चूँकि वर्ण्य विषय आध्यात्मिक है, अतः सरलता आना स्वाभाविक है। किंतु आपके संपादकत्व ने उसकी

लोकप्रियता में चार चांद लगा दिये हैं। आत्मधर्म के नये अंक की बड़ी बेसब्री से इन्तजार करता हूँ।

बाशीम (अकोला) से सौ. मंजु पाटनी लिखती हैं :-

आपको द्वारा संपादित आत्मधर्म अपने आप में अनूठी पत्रिका है। प्रत्येक अंक एक से बढ़कर एक है। 'समयसार प्रवचन' और 'द्रव्यसंग्रह प्रवचन' जैसे लेख एकदम प्रारंभ से लेकर आपने बहुत अच्छा किया है। 'विचार बिंदु' मनन एवं चिंतन के लिए उपयोगी है। 'सम्यग्ज्ञान दीपिका' के बारे में जो भ्रांतियाँ यहाँ के लोगों में फैली थीं, नवम्बर अंक में दिये गये इंटरव्यू को पढ़कर दूर हो गयी हैं।

कलकत्ता से श्री बाबूलाल सरावगी लिखते हैं :-

आत्मधर्म हिन्दी आपके हाथ में आने से बहुत अच्छा धर्म-प्रचार हो रहा है। प्रत्येक अंक को हम दो-तीन बार पढ़ते हैं, फिर भी मन नहीं भरता। पूज्य स्वामीजी ने बहुत उपकार किया है। सन्मति संदेश में आपका लेख 'सत्य की खोज' पढ़कर प्रसन्नता हुई। ऐसे लेखों से लोगों का भ्रम मिट सकता है।

❀*❀*

प्रबंध संपादक की कलम से

(१) आत्मधर्म के अक्टूबर तथा नवंबर के अंक समाप्त हो गये हैं और जनवरी का अंक भी समाप्त-प्रायः है, अतः कोई भी सज्जन इनके लिये लिखने का कष्ट न करें। शेष अंक यदि किसी भाई को प्राप्त न हुए हों तो सूचना मिलने पर भेज दिये जावेंगे।

(२) नवंबर के अंक में जो 'सम्यग्ज्ञानदीपिका : एक और इंटरव्यू कानजीस्वामी से' प्रकाशित किया गया था, उसके कारण बहुत से लोग नवंबर का आत्मधर्म का अंक मंगाते हैं। वह अंक तो समाप्त हो गया है, किंतु वह इंटरव्यू अलग से छपा है- उसे भेजा जा सकता है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी के मंगल-प्रवास का कार्यक्रम

क्रम	ग्राम	दिनांक	वार	दिवस
१	भावनगर	२४ फरवरी से २७ फरवरी	गुरुवार से रविवार	४
२	उमराला	२८ फरवरी से १ मार्च	सोमवार से मंगलवार	२
३	गढ़ड़ा	२ मार्च से ५ मार्च	बुधवार से शनिवार	४
४	लाठी	६ मार्च से ९ मार्च	रविवार से बुधवार	४
५	अमरेली	१० मार्च से १३ मार्च	गुरुवार से रविवार	४
६	मोटा आंकडिया	१४ मार्च से १५ मार्च	सोमवार से मंगलवार	२
७	वडिया	१६ मार्च से १८ मार्च	बुधवार से शुक्रवार	३
८	जेतपुर	१९ मार्च से २२ मार्च	शनिवार से मंगलवार	४
९	पोरबंदर	२३ मार्च से २८ मार्च	बुधवार से सोमवार	६
१०	गोंडल	२९ मार्च से १ अप्रेल	मंगलवार से शुक्रवार	४
११	राजकोट	२ अप्रेल से १२ अप्रेल	शनिवार से मंगलवार	११
१२	*जामनगर	१३ अप्रेल से २० अप्रेल	बुधवार से बुधवार	८
१३	वढ़वाण	२१ अप्रेल से २४ अप्रेल	गुरुवार से रविवार	४
१४	अहमदाबाद	२५ अप्रेल	सोमवार	१
१५	मद्रास	२६ अप्रेल से ३ मई	मंगलवार से मंगलवार	८
१६	बम्बई	४ मई से १८ मई	बुधवार से बुधवार	१५
१७	बड़ौदा	१९ मई से २२ मई	गुरुवार से रविवार	४
१८	सूरत	२३ मई से २६ मई	सोमवार से गुरुवार	४
१९	पालेज	२७ मई से ३० मई	शुक्रवार से सोमवार	४
२०	अहमदाबाद	३१ मई से ३ जून	मंगलवार से शुक्रवार	४
२१	सोनगढ़	४ जून	शनिवार	—

***२० अप्रेल १९७७ को पूज्य स्वामीजी का ८८वाँ जन्म-दिवस जामनगर में उत्साहपूर्वक मनाया जाएगा।**

Reg. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

	रु० पैसे		रु० पैसे
समयसार	१२-००	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१०-००
प्रवचनसार	१२-००	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	५-००
पंचास्तिकाय	७-५०	" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)	२-००
नियमसार	५-५०	मैं कौन हूँ?	१-००
अष्टपाहुड़	१०-००	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	०-६५
समयसार नाटक	७-५०	कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य	०-३०
समयसार प्रवचन भाग १	४-५०	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३-००
समयसार प्रवचन भाग २	४-५०	अनेकांत और स्याद्वाद	०-३५
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००	तीर्थंकर भगवान महावीर	०-४०
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०-२५
आत्मावलोकन	३-००	सत्य की खोज (कथानक)	प्रेस में
श्रावकधर्म प्रकाश	३-००	अपने को पहचानिए	०-५०
छहढाला (सचित्र)	१-५०	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	०-३५
द्रव्यसंग्रह	१-२०	अर्चना (पूजा संग्रह)	०-४०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	०-५०
प्रवचन परमागम	२-५०	बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
धर्म की क्रिया	२-००	बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०	बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००	वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
बालपोथी भाग १	०-२५	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
बालपोथी भाग २	०-४०	सुंदर लेख बालबोध पाठमाला भाग १	०-२५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	३-००	आगम पथ : कानजीस्वामी विशेषांक	३-००
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००	वीतराग-विज्ञान भाग ३	१-००
परमात्म पूजा संग्रह	२-००	(छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	
मोक्षमार्गप्रकाशक	५-००		

*** श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)**

*** पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४**